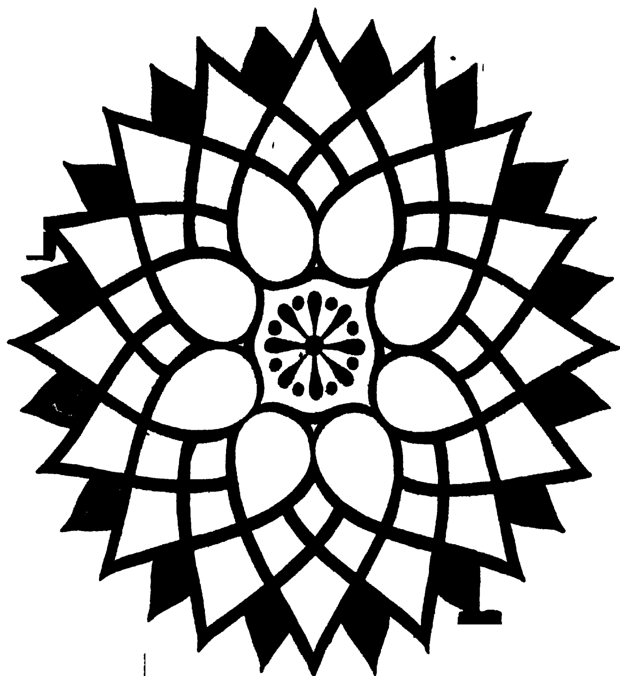
शिक्षाएँ

महत्त्वपूर्ण तथा सर्वथा
वान महावीर से लेकर
जार वर्ष) के प्राकृत,
जैन साहित्य की विविध
णकारी तथा अध्यात्म
जार आठ शिक्षाएँ

पस्वी एवं सुलते
निवृत्त मुनिश्री
' ने इस संकलन में
। ढाई हजार वर्ष के
डन कर एक
है।

स्मृति प्रकाशन
जस्थान)



जैन धर्म की
हजार शिक्षाएँ

श्री मधुकर मुनि

भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

जैनधर्म की हजार शिक्षाएँ

सपांदक

श्री मधुकर मुनि

प्रकाशक :

मुनि श्री हजारीमल स्मृति-प्रकाशन

ब्यावर

मुनि श्री हजारीमल स्मृति-प्रकाशन का पन्द्रहवां सुमन



पुस्तक : जैनधर्म की हजार शिक्षाएँ

प्रथम मुद्रण : मई १९७३, अक्षय तृतीया
(वि० सं० २०३०)

मुद्रक : संजय साहित्य संगम के लिए
रामनारायन मेड़तवाल
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस
आगरा—२

प्रकाशक : मुनि श्री हजारीमल स्मृति-प्रकाशन
पीपलिया बाजार, ब्यावर

मूल्य : पांच रुपये मात्र (प्लास्टिक कवर युक्त)

समर्पण

स्व० गुरुदेव श्रद्धेय स्वामी श्री जोरावरमल जी म०

एवं

परम वैराग्यमूर्ति स्व० गुरुभ्राता स्वामी श्री हजारीमल जी म०

तथा

शांतमूर्ति गुरुभ्राता स्वामीजी श्री व्रजलाल जी म०

को;

इन त्रिमूर्ति के कृपा-पूर्ण मार्गदर्शन ने,

मेरे जीवन को सदा सही पथ पर

बढ़ने का संबल दिया,

और

मंगलमय बनाया

—मुनि मधुकर

मुनि मधुकर

प्रकाशकीय

जैन-धर्म की हजार शिक्षाएं" का प्रकाशन करते हुए अतीव हर्ष हो रहा है। मुनिश्री हजारीमल स्मृति---प्रकाशन का यह प्रकाशन पंद्रहवाँ सुरभित सुमन है।

यह संकलन अतीव श्रम-पूर्वक तैयार किया गया है। इसके संकलन में श्रद्धेय श्री मधुकर मुनिजी को अनेक आगम व ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा है।

हमें प्रसन्नता है कि साहित्य व दर्शन के विद्वान श्रीयुत् श्रीचंद जी सुराना 'सरस' का सर्वतोमुखी सहयोग मुनिश्रीजी को मिला है। यही कारण है कि अतीव अल्प समय में यह प्रकाशन सुन्दर रूप में जन-जन के कर-कमलों में पहुंच पाया है।

अपने मनोमुग्धकारी प्रकाशनों के कारण **'मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन'** ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। तथा पाठकों का स्नेह व आकर्षण भी प्राप्त किया है। हमारे अन्य प्रकाशनों की तरह यह प्रकाशन भी जनता को अधिक रुचिकर होगा—ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

जिन अर्थ-सहयोगियों ने इस प्रकाशन में अर्थ-सहयोग दिया है, उनका भी हम आभार मानते हैं। समय समय पर अर्थ-

सहयोगियों का अर्थ-सहयोग संस्था को मिलता रहेगा—इसी आशा के साथ विराम।

पुनश्च—हमारे स्नेहपूर्ण आग्रह को मान्य कर जीवन साहित्य के संपादक एवं प्रमुख गांधीवादी विचारक-लेखक श्री यशपाल जी जैन ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी है। हम उनके इस सहयोग के लिए आभारी है।

—विनम्र

सुगनचन्द कोठारी

मंत्री

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर

अपनी बात !

कुछ वर्ष पूर्व एक समाचार पढ़ा था कि फारस के शाह ने अमीर अफगानिस्तान को 'कुरान-शरीफ' की एक प्रति भेंट की है जिसका मूल्य है ३ हजार पौण्ड। वह सोने के पत्रों में लिखी हुई है. उसमें ३६८ रत्न जवाहरात जड़े हुए हैं—अर्थात् १६८ मोती, १३२ लाले और १०८ हीरें। वह संसार की सबसे मूल्यवान (कीमती) पुस्तक कही जाती है।

मेरे मन में आया-- भौतिकवादी युग में अब मनुष्य धर्म और ज्ञान को भी भौतिक-समृद्धि से जीतने का प्रयत्न करने लग गया है। महापुरुषों के उपदेश को भी वह हीरों पन्नों से तोल रहा है और जिसमें ज्यादा हीरे लगें, उस पुस्तक को, साहित्य को संसार कीमती कहने लगा है।

साहित्य का, उपदेशवचन का, हित-शिक्षा का मूल्य हीरों से तोलना सचमुच में एक मूर्खता है। एक खतरनाक प्रयत्न है। भौतिक वस्तु का कुछ मूल्य होता है, किंतु महापुरुष के सत्वचन तो अमूल्य होते हैं। एक ही वचन जीवन का, संपूर्ण मानवता का, समस्त विश्व का कल्याण कर सकता है। अणु को महान् बना सकता है, पतित को पावन कर सकता है, और क्या एक ही शिक्षा पर आचरण कर इन्सान भगवान बन सकता है, क्या विश्व के महामूल्यवान किसी भी हीरे-पन्ने में है यह क्षमता ?

इस भूमिका के साथ मैं यह कहना चाहता हूं कि महापुरुषों के, प्रबुद्ध चिंतकों और अनुभवी तत्त्ववेत्ताओं के हजारों-हजार वचन, उपदेश, अनुभव और हित-शिक्षाएं हमारे वाङ्मय के पन्नों पर बिखरे पड़े हैं। उन छोटे-छोटे वचनों में सृष्टि की अनन्त-ज्ञान राशि इस प्रकार छिपी पड़ी है जिस प्रकार छोटे-छोटे सुमनों में प्रकृति का सौरभमय वैभव छिपा रहता है। अपेक्षा यही है कि उस अमूल्य वाङ्मय-कोष के द्वार उद्घाटित करें, और विवेक-चक्षु खोलकर उनका अनुशीलन-चिंतन करें। हो सकता है किसी एक ही वचन-मणि से जीवन की, जन्म-जन्म की दरिद्रता दूर हो जाय, और सत्य का अनन्त प्रकाश हृदय में जगमगा उठे।

बचपन से हीं मुझे प्राचीन साहित्य के अवलोकन-अनुशीलन की रुचि रही है, और साथ ही संग्रह-रुचि थी। जो भी शिक्षात्मक वचन कहीं मिला उसे लिखने की, रट लेने की आदत थी। कुछवर्ष पूर्व भगवान महावीर के वचनों के इस प्रकार के मेरे चार संकलन प्रकाशित भी हुए थे -- **सन्मतिवाणी, स्वस्थ अध्ययन, धर्मपथ** और **जागरण**! उस प्रकाशन के पश्चात् जैन जगत में सूक्ति-साहित्य के प्रकाशन की एक स्वस्थ परम्परा चल पड़ी, कई शुभ प्रयत्न हुए, जिनमें सर्वोत्तम प्रयत्न कविरत्न उपाध्याय श्री अमर चन्द जी महाराज द्वारा संपादित '**सूक्ति त्रिवेणी**' कहा जा सकता है। सूक्ति त्रिवेणी में जैन आगम साहित्य से आगे बढ़ने का प्रयत्न हुआ है भाष्य, निर्युक्ति चूर्णि तथा दिगम्बर जैन साहित्य का भी आलोड़न हुआ है। बौद्ध एवं वैदिक वाङ्मय की सूक्तियां भी प्रचुर मात्रा के संकलित की गई हैं। वैसा प्रयत्न शायद अपने ढंग का पहला ही था।

मेरे मन में कल्पना थी—जैन वाङ्मय, जिसके प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य का आलोड़न तो किया गया है, लेकिन संस्कृत वाङ्मय की सूक्तियाँ विशेष प्राप्त नहीं होती, जबकि वह भी प्रचुर उपदेश

वचनों से समृद्ध है। इस दिशा में मैंने एक चरण आगे बढ़ाया है - आगमों से लेकर अधुनाकाल तक के, इस ढाई हजार वर्ष के प्राकृत-अपभ्रंश एवं संस्कृत वाङ्मय में बिखरे हुए उपदेश प्रधान शिक्षा वचनों का एक संकलन—**जैनधर्म की हजार शिक्षाएं** के रूप में ! संकलन करते समय लगभग १५०० सूक्तियां संकलित हो गई थी, लेकिन चूंकि मैंने हजार शिक्षाएँ ही इसमे संकलित करने का निश्चय किया, अत: उनमें से पुनः छटनी की और जो-जो वचन, शिक्षाएं मुझ अधिक हृदयस्पर्शी व विचार-समृद्ध लगे उन्हें प्राथमिकता दी। शिक्षाओं का सकलन इतना कठिन नहीं था जितना कठिन लगा—उनका विपयानुक्रम से वर्गीकरण। एक ही पद्य अनेक विपयों से सम्बद्ध दीखता है, असमंजस खड़ा होता है उसे इस विपय में रखें या उस विपय में। पढते समय आलोचकों को भी शायद ऐसा विकल्प उठे कि यह अमुक विपय में जाना चाहिए, पर उसका भाव पूर्व प्रकरण के किसी अन्य विषय को स्पष्ट करता है—ऐसी स्थिति में शिक्षाओं का विषयान्तर कर पाना बड़ा कठिन होता है। पूर्ण सावधानी बरतते हुए भी संभवत. एक-आध सूक्ति कही दुबारा भी आगई हो और वह ध्यान में न आ सकी हो। प्राय: सूक्तियों में ग्रंथों का स्थल निर्देश भी करने का प्रयत्न किया है कुछ सुभाषित ग्रंथ से नहीं, ग्रंथकर्ता के नाम से ही प्रसिद्ध है, ग्रंथ का कुछ संदर्भ मेरे ध्यान में नहीं आया—उन्हें ग्रंथकार आचार्य के नाम से ही उद्धृत कर दिया गया है। ग्रंथ व ग्रंथकारों के विपय में कुछ ऐतिहासिक जानकारी परिशिष्ट में दे दी है।

इस संकलन में विशेप ध्यान रखा गया है कि पाठक को जैन सुभाषितों से परिचय कराने की बजाय जैन धर्म की शिक्षाओं से अनुप्रीणित किया जाय। जीवन की बहुविध परिस्थितियों को स्पर्श करनेवाली और कुछ स्पष्ट मार्गदर्शन करनेवाली शिक्षाओं

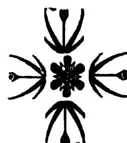
को अधिक महत्व देने का संकल्प रहा है। और इसलिए इस ग्रंथ को केवल सुभाषित-संग्रह बनाने की अपेक्षा जैन धर्म की शिक्षाओं का संग्रह बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया है, आशा है इससे न केवल जैन, अपितु धर्म एवं सदाचार में आस्था रखनेवाले प्रत्येक पाठक को लाभ मिलेगा। और मैं तो विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि यदि एक शिक्षा भी सच्चे रूप से आपके जीवन में उतर गई तो आपके लिए अमीर की उस हीरों जड़ी 'कुरान' से भी यह पुस्तक, पुस्तक का वह एक पृष्ठ, उस पृष्ठ की सिर्फ एक पंक्ति अधिक कीमती, अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

मेरी साहित्य-साधना में उपप्रवर्तक पूज्य स्वामीजी श्रीब्रजलाल जी महाराज के आशीर्वाद का सहयोग तो निरंतर मेरे साथ चलता ही रहता है। उनके स्नेहमय आशीर्वाद से ही यह प्रयत्न सफल हुआ है। साथ ही—इस महत्वपूर्ण संकलन की भूमिका लिखी है गाँधीसाहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक-चिंतक एवं मनीषी श्रीयशपालजी जैन ने। मैं उनके सद्भाव, स्नेह एवं सहकार का स्वागत करता हूं।

इस संकलन में स्नेही श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' का हार्दिक सहयोग भी पूर्ण हृदय से मिला है, उनके श्रद्धा-पूर्ण सहकार को मैं भुला नहीं सकता। किं बहुना सहकार-सहयोग की भावना बढ़ती रहे और वाङ्मय का नवनीत पाठकों के हाथों में सतत पहुंचकर उन्हें लाभान्वित करता रहेगा, इसी विश्वास के साथ....

आनन्दनगर (कुशालपुर) —मुनि मधुकर

भूमिका



कहा जाता है कि इस धरा पर मानव-जीवन दुर्लभ है। यह भी कहा जाता है कि संसार के समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ प्राणी 'मनुष्य' है। वस्तुतः यह मान्यता इसलिए है कि मनुष्य में विवेक होता है, वह भले-बुरे के बीच भेद कर सकता है और सन्मार्ग पर चलने की क्षमता रखता है। अपने इस गुण के कारण ही वह अन्य जीवधारियों की तुलना में ऊंचे स्थान का अधिकारी माना गया है।

लेकिन दुर्भाग्य से ऐसे व्यक्तियों की संख्या नगण्य है—जिनका विवेक सतत जागरूक रहता हो और जो आत्म-कल्याणकारी एवं लोक-हितकारी मार्ग का निरन्तर अनुसरण करते हों। सत्य बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर में सद् और असद् दो प्रकार की वृत्तियां होती हैं। यह वृत्तियां आपस में बराबर संघर्ष करती रहती हैं। उस संघर्ष में जिस वृत्ति की विजय होती है, उसी के संकेत पर मनुष्य चलता है। महात्मा गांधी ने इस आन्तरिक संघर्ष को कौरवों और पाण्डवों के बीच हुए महाभारत की संज्ञा दी थी। यह युद्ध कभी समाप्त नहीं हुआ; न जब तक मनुष्य का अस्तित्व है समाप्त होगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मानव की सद्वृत्तियां उसे ऊंचाई की ओर ले जाती है, असद्वृत्तियां उसे नीचे गिराती हैं। इतना जानते हुए भी, अधिकांश व्यक्ति अपने भीतर बैठे शैतान की बात सुनते है और देववाणी की उपेक्षा कर जाते है। इसका कारण यह है कि मनुष्य विवेक होते हुए भी सुख के वास्तविक रूप को पहचान नही पाता और शैतान के भुलावे में आकर सारतत्त्व को छोड़, छाया के पीछे पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त देव द्वारा निर्दिष्ट मार्ग गौरी-शकर की चोटी पर चढ़ने के समान कठिन होता है। इने-गिने व्यक्ति ही उस पर चलने का साहस जुटा पाते है। जन-सामान्य की भाषा में हम कह सकते है कि मनुष्य प्रायः सासारिक प्रलोभनों में फस जाता है। उसके विवेक पर अविवेक का और उसके ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है। जीवन भर वह इसी दूषित चक्र में पड़ा रहता है। धर्म ग्रन्थों में इसी को माया, अज्ञान व मोह कहा गया है, जिसमें ससार के अधिकतर प्राणी लिप्त रहते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि हर आदमी सुख चाहता है, चैन की जिन्दगी बिताने का अभिलाषी रहता है। लेकिन विडम्बना यह है कि वह बबूल का पेड लगाकर आम खाने की इच्छा करता है। वह यह भूल जाता है कि बबूल के पेड़ पर आम नही लग सकते। किसी भी उच्च ध्येय की पूर्ति के लिए उसकी ओर निष्ठा तथा दृढ़ता के साथ चलना आवश्यक होता है।

मानव की दुर्बलता को ध्यान मे रखकर हमारे महापुरुषों, साधु-संतों तथा चिन्तकों ने विपुल साहित्य की रचना करके बताया है कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है और उसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ? हमारे धर्मग्रन्थ ऐसी लोकोपयोगी सामग्री से भरे पडे हैं। संसार का शायद ही कोई धर्म ऐसा हो, जिसने मानव को ऊर्ध्वगामी बनने की प्रेरणा न दी हो।

अन्य धर्मों की भांति इस दृष्टि से जैनधर्म भी अत्यन्त सम्पन्न है। प्राचीनकाल से लेकर अब तक जैनाचार्यों ने ऐसा बहुत-सा साहित्य रचा है, जो न केवल मानव-जीवन के मर्म को उद्घाटित करता है अपितु उस पर चलने को उत्प्रेरित भी करता है।

मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जैनश्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के विद्वान् संत श्री 'मधुकर' मुनि [मुनि श्री मिश्रीमलजी] ने अनेक जैन ग्रन्थों का अध्ययन-अनुशीलन करके प्रस्तुत पुस्तक का संकलन किया है। लेखक हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के विद्वान है, और उनका अध्ययन काफी व्यापक है यह तो प्रस्तुत संकलन से ही स्पष्ट हो जाता है। वे कई ग्रन्थों के प्रणेता हैं। 'साधना के सूत्र', 'अन्तर की ओर' [भाग १-२] आदि के अतिरिक्त जैन कथामाला के अन्तर्गत उनके छह भाग प्रकाशित हो चुके हैं। और करीब २० भाग प्रकाशनाधीन हैं। वह कुशल वक्ता भी हैं। उन्होंने—भगवान महावीर, आचार्य भद्रबाहु, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य जिनसेन, आचार्य हरिभद्र, उमास्वाति, सिद्धसेन, स्वामीकार्तिकेय, क्षमाश्रमणजिनभद्रगणी, संघदास-गणी, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य सोमदेव प्रभृति महापुरुषों के चुने हुए वचन इस पुस्तक में संग्रहित किए हैं। जीवन की उत्कृष्टता के लिए जो भी विषय आवश्यक है, उसका समावेश उन्होंने इसमें किया है। जीवन के ऊर्ध्वमुखी चिंतन एवं उत्थान की प्रेरणा इन सुभाषितों में झलक रही है।

पुस्तक की विशेषता यह है कि लेखक की दृष्टि व्यापक रही है और उन्होंने दिगम्बर, श्वेताम्बर, तेरापंथी, स्थानकवासी आदि किसी भी आम्नाय के साहित्य को छोड़ा नहीं है। लगभग सौ ग्रन्थों में से एक हजार शिक्षाएँ छांटकर निकालना गागर में सागर भरने के समान है और इस कार्य को मुनिवर ने बड़ी सुन्दरता व दक्षता से सम्पन्न किया है। सुभाषितों के चुनाव के विषय में मतभेद हो सकता है, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि संकलनकर्ता का ध्येय ऊंचा और विशाल रहा है।

पूरी सामग्री को उन्होंने दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम खण्ड में उन्होंने नीति-सम्बन्धी वचन दिए हैं, दूसरे खण्ड में अध्यात्म-विषयक! इन दोनों भागों में उन्होंने ऐसी मंदाकिनी प्रवाहित की है, जिसमें अवगाहन करके बड़ी शीतलता तथा धन्यता अनुभव होती है। कुछ वचनामृत देखिए—

विणएण णरो, गंधेण चंदणं सोमयाइ रयणिरो।
महुररसेण अमयं, जणपियत्तं लहइ भुवणे॥

जैसे सुगन्ध के कारण चंदन, सौम्यता के कारण चन्द्रमा और मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय हैं, ऐसे ही विनय के कारण मनुष्य लोगों में प्रिय बन जाता है।

(पृष्ठ १२।२१)

तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि।

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।
[स्वरूपदृष्टि से सब चैतन्य एक समान है—यह अद्वैतभावना ही अहिंसा का मूलाधार है।]

(पृष्ठ ३३।११)

सच्चं लोगम्मि सारभूयं, गम्भीरतरं महासमुद्दाओ।

संसार में सत्य' ही सारभूत है।
सत्य महासमुद्र से भी अधिक गंभीर है।

(पृष्ठ ४५।१२)

असत्यमप्रत्ययमूलकारणम् ।

असत्य अविश्वास का मूल कारण है । अतः विश्वास चाहनेवाले को असत्य का त्याग करना चाहिए ।

(पृष्ठ ४७-२४)

ण भाइयव्वं, भीतं खु भया अइंति लहुयं ।

भय से डरना नहीं चाहिए । भयभीत मनुष्य के पास भय शीघ्र आते हैं ।

(पृष्ठ ५६।२)

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो ।

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मैत्री का और लोभ सभी सद्गुणों का विनाश कर डालता है ।

(पृष्ठ ६०।१०)

माणविजए णं मद्दवं जणयई ।

अभिमान को जीत लेने से मृदुता (नम्रता) जागृत होती है ।

(पृष्ठ ६४।५)

सयणस्स जणस्स पिओ, णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं, लभदि सकज्जं च साहेदि ।

निरभिमानी मनुष्य जन और स्वजन—सभी को सदा प्रिय लगता है । वह ज्ञान, यश और सम्पत्ति प्राप्त करता है तथा अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध कर सकता है ।

(पृष्ठ ६५।६)

सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहिं ।
सव्वोदही जलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ ।।

बाहर से जलती हुई अग्नि को थोड़े से जल से शान्त किया जा सकता है। किन्तु मोह अर्थात् तृष्णारूपी अग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी शान्त नहीं किया जा सकता है।

(पृष्ठ ७२।१२)

समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भई।

जो दूसरों के सुख एवं कल्याण का प्रयत्न करता है वह स्वयं भी सुख एवं कल्याण को प्राप्त होता है।

(पृष्ठ ८५।६)

जह कोति अमयरुक्खो विसकटगवल्लिवेढितो संतो।
ण चइज्जइ अल्लीतुं, एवं सो खिसमाणो उ॥

जिस प्रकार जहरीले काँटोंवाली लता से वेष्टित होने पर अमृत-वृक्ष का भी कोई आश्रय नहीं लेता, उसी प्रकार दूसरों को तिरस्कार करने और दुर्वचन कहनेवाले विद्वान् को भी कोई नहीं पूछता।

(पृष्ठ ८७।५)

किच्चा परस्स णिंदं, जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।
सो इच्छदि आरोग्गं, परम्मि कडुओसहे पीए॥

जो दूसरों की निन्दा करके अपने को गुणवान प्रस्थापित करना चाहता है वह व्यक्ति दूसरों को कड़वी औषधि पिलाकर स्वयं रोगरहित होने की इच्छा करता है।

(पृष्ठ ६५।३४)

नो तुच्छए नो य विकत्थइज्जा।

बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह वाणी से न किसी को तुच्छ बताए और न झूठी प्रशंसा करें।

(पृष्ठ ११४।३)

न कया वि मणेण पावएणं पावगं किंचि वि झायव्वं ।
वईए पावियाए पावगं न किंचि वि भासियव्वं ।।

मन से कभी भी बुरा नहीं सोचना चाहिए ।
वचन से कभी भी बुरा नहीं बोलना चाहिए ।

(पृष्ठ १२६।८)

सद्धा खमं णे विणइअत्तु रागं ।

धर्म-श्रद्धा हमें राग (आसक्ति) से मुक्त कर सकती है ।

(पृष्ठ १५१।७)

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहिं वहेहि य ।।

दूसरे वध और बंधन आदि से दमन करें, इससे तो अच्छा है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपना (इच्छाओं का) दमन कर लूँ ।

(पृष्ठ १६६।७)

कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ।

कामासक्त व्यक्ति का कोई इलाज नहीं है । अर्थात् काम-रोग की कोई चिकित्सा नहीं है ।

(पृष्ठ १८४।१८)

खीरे दूसिं जधा पप्प, विणासमुवगच्छति ।
एवं रागो व दोसो य, बंभचेर विणासणो ।।

जरा-सी खटाई भी जिस प्रकार दूध को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार राग-द्वेष का संकल्प संयम को नष्ट कर देता है ।

(पृष्ठ १९८।१२)

इस प्रकार इन सुभाषितों में बड़ा ही स्पष्ट और सुन्दर जीवन-दर्शन झलक रहा है जो मानव को पद-पद पर कर्तव्य एवं सदाचार की प्रेरणा देता हुआ जीवन को विकास की ओर मोड़ता है।

इस लोकोपयोगी संग्रह के लिए मैं विद्वान् संकलनकर्त्ता एवं संपादक मुनिजी को हार्दिक बधाई देता हूं और आशा करता हूं कि प्रत्येक आत्मार्थी, जीवन-शोधक इस पुस्तक को पढ़ेगा और इन शिक्षाओं से लाभान्वित होगा।

७/८ दरियागंज
दिल्ली
२९ अप्रैल १९७३

—यशपाल जैन



अनुक्रमणिका

नीति-दर्शन

अध्यात्म-दर्शन

अकरादिविषयानुक्रम



जैनधर्म की हजार शिक्षाएँ

[दो खण्डों में, साठ विषयों पर
एक हजार आठ (१००८) शिक्षाएँ]

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च।

सम्यक् तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते।

—आचार्य शुभचन्द्र—ज्ञानार्णव पृष्ठ ६

मोह निद्रा से जगाने के लिए, विवेक को बढ़ाने के लिए, तत्त्व के उपदेश के लिए, लोगों के हित के लिए और विकारों की शांति के लिए—ही संतों की सूक्ति रूप शिक्षा का प्रवर्तन होता है।

खण्ड १

नीति-दर्शन

विषय : ३५ : शिक्षाएँ : ५६१

१ उत्तम मंगल

१, णमो अरिहंताणं,
णमो सिद्धाणं,
णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्वसाहूणं।

—भगवती सूत्र १।१

अरिहन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, सर्वसाधुओं को नमस्कार।

२. एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेंसि पढमं हवइ मंगलं॥

—आवश्यकमलयगिरि खण्ड-२ अ० १

इन पाँचों पदों को किया हुआ यह नमस्कार सभी पापों का नाश करनेवाला है। संसार के सभी मंगलों में यह प्रथम (मुख्य) मंगल है।

३. चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं।

—आवश्यक सूत्र अ० ४

मंगल चार हैं—अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवल-प्ररूपित धर्म।

४. सर्वसुखमूलबीजं, सर्वार्थविनिश्चयप्रकाशकरम् ।
सर्वगुण - सिद्धिसाधन-धनमर्हच्छाशनं जयति ॥

—प्रशमरति प्रकरण ३१३

जो समस्त सुखों का मूलबीज, समस्त पदार्थों का विनिश्चयात्मक प्रकाश करनेवाला एवं जो समस्त गुणों की सिद्धि के साधन रूप धन से युक्त है, वह जैनशासन विजयी हो रहा है।

५. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥

—दशवैकालिक १।१

धर्म सब से उत्कृष्ट मंगल है। धर्म है—अहिंसा, संयम और तप। जो धर्मात्मा है, जिनके मन में सदा धर्म रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते है।

६. धम्मो उ भावमंगलमेत्तो सिद्धि त्ति काऊणं ।

—दशवै० निर्युक्ति ६०

धर्म भावमंगल है, इसी से आत्मा को सिद्धि प्राप्त होती है।

७. पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परमं ।

—बृह० भा० ८१४

पापकर्म न करना ही वस्तुतः परम मंगल है।



२ देव-गुरु

१. भवबीजाङ्कुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।

—वीतरागस्तोत्र-प्रकरण-२१।४४

भव अर्थात् जन्म-मरण के बीज को उत्पन्न करनेवाले राग—द्वेष आदि जिसके नष्ट हो गये हैं, वह नाम से चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो, उसे नमस्कार है।

२. महाव्रतधरा धीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ।।

—योगशास्त्र २।८

महाव्रतधारी, धैर्यवान, शुद्ध भिक्षा से जीनेवाले, संयम में स्थिर रहनेवाले एवं धर्म का उपदेश देनेवाले महात्मा गुरु माने गये हैं।

३ कम्माणनिज्जरट्ठाए, एवं खु गणे भवे धरेयव्वो ।

—व्यवहारभाष्य ३।४५

कर्मों की निर्जरा के लिए ही आचार्य को संघ का नेतृत्व संभालना चाहिए।

४. स किं गुरुः पिता सुहृद्वा योऽभ्यसूययाऽभं बहुदोषं,
बहुषु वा प्रकाशयति न शिक्षयति च ।।

—नीतिवाक्यामृत ११।५३

वे गुरु, पिता व मित्र निन्दनीय या शत्रु सदृश हैं—जो ईर्ष्यावश अपने बहुदोषी शिष्य, पुत्र व मित्र के दोष दूसरों के समक्ष प्रकट करते हैं और उसे नैतिक शिक्षण नहीं देते ।

५. आचार्यस्यैव तज्जाड्यं, यच्छिष्योनावबुध्यते ।
गावो गोपालकेनैव, कुतीर्थे नावतारिताः ॥
—अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका ५

यदि शिष्य को ज्ञान नहीं होता तो वह आचार्य—गुरु की ही जड़ता है; क्योंकि गायों को कुघाट में उतारनेवाला वस्तुतः गोपाल ही है ।

६. रागद्दोस-विमुक्को सीयघरसमो य आयरिओ ।
—निशीथभाष्य २७९४

राग-द्वेष के विकल्प से मुक्त आचार्य शिष्यों के लिए शीतगृह (सब ऋतुओं में सुखदायी) के समान है ।

७. अणाबाहसुहाभिकंखी, गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ।
—दशवैकालिक ९।१।१०

अनाबाध—मुक्तिसुखाभिलाषी शिष्य को गुरु की प्रसन्नता के लिये सदा प्रयत्न करना चाहिये ।

८. पितरमिव गुरुमुपचरेत् ।
—नीतिवाक्या० ११।२४

शिष्य गुरु के साथ पिता के समान व्यवहार करे ।

९. जं देइ दिक्खसिक्खा, कम्मक्खयकारणे सुद्धा ।
—बोधपाहुड १६

आचार्य वह है—जो कर्म को क्षय करनेवाली शुद्ध दीक्षा और शुद्ध शिक्षा देता है ।

१०. सत्त्वेभ्यः सर्वशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ।
—कुमारपाल प्रबन्ध

जो एकान्त हितबुद्धि से जीवों को सभी शास्त्रों का सच्चा अर्थ समझाता है, वह गुरु है।

११. अन्नं पुट्ठो अन्नं जो साहइ, सो गुरु न बहिरोव्व ।
न य सीसो जो अन्नं सुणेइ, परिभासए अन्नं ॥

—विशेषा० भा० १४४३

बहरे के समान—शिष्य पूछे कुछ और बताए, कुछ और—वह गुरु, गुरु नहीं है। और वह शिष्य भी शिष्य नहीं है, जो सुने कुछ और, कहे कुछ और।

१२. मसगोव्व तुदं जच्चाइएहिं निच्छुब्भइ कुसीसो वि ।

—बृह० भा० ३५०

जो कुशिष्य गुरु को, जाति आदि की निन्दा द्वारा मच्छर की तरह हर समय तंग करता रहता है, वह मच्छर की तरह ही भगा दिया जाता है।

१३, कामं परपरितावो असायहेतु जिणेहिं पण्णत्तो ।
आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले स खलु ॥

—बृह० भा० २१०८

यह ठीक है कि जिनेश्वर देव ने पर-परिताप को दुख का हेतु बताया है, किन्तु शिक्षा की दृष्टि से दुष्ट शिष्य को दिया जाने वाला परिताप इस कोटि में नहीं है, चूंकि वह तो स्व-पर का हितकारी होता है।

१४. न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः ।
नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ।

—आदिपुराण ६।१७५

जैसे जहाज के विना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, वैसे ही गुरु के मार्ग दर्शन के विना ससार-सागर का पार पाना बहुत कठिन है।



३. गुरु-आज्ञा

१. निद्देसं नाइ वट्टेज्जा मेहावी ।

—आचारांग ५।६

विज्ञ-बुद्धिमान कभी भी भगवद्‌आज्ञा व गुरुआज्ञा का उल्लंघन नहीं करे ।

२. आणातवो आणाइसंजमो, तहय दाणमाणाए ।
आणारहिओ धम्मो, पलालपूलव्व पडिहाई ॥

—संबोधसत्तरि ३२

आज्ञा में तप हैं, आज्ञा में संयम है और आज्ञा में ही दान है । आज्ञारहित धर्म को ज्ञानी पुरुष धान्यरहित घास के पूलेवत् छोड़ देता है ।

३. आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं ।

—आचा० ६।३

भगवान की आज्ञा के अनुसार आचरण करनेवाले को भय कहां ? वह तो अकुतोभय है ।

४. अपरा तीर्थकृत्सेवा, तदाज्ञापालनं परम् ।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥

—सम्बोधि ७।५

तीर्थंकर की पर्युपासना की अपेक्षा उनकी आज्ञा का पालन करना विशिष्ट है । आज्ञा की आराधना करनेवाले मुक्ति को प्राप्त होते हैं और उससे विपरीत चलनेवाले संसार में भटकते हैं ।

५. गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्मप्रत्यवायेभ्यः।

—नीतिवाक्यामृत ११।६

अधर्म, अनुचित आचार(नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति)और अपने सत्कर्त्तव्यों में विघ्न की बातों को छोड़कर बाकी सभी स्थानों में शिष्य को गुरु के वचन का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

६. गुर्वाज्ञाकरणं हि सर्वगुणेभ्योऽतिरिच्यते।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र १।८

गुरु-आज्ञा का पालन करना सब गुणों से बढ़कर है।

७. हितमवगणयेद् वा कः सुधीराप्तवाक्यम्।

—आदिपुराण २।१६१

कौन बुद्धिमान है, जो भगवान के हितकारी वचनों की अवज्ञा करेगा?



४ पूजा-भक्ति

१. पूजा च द्रव्यभाव-संकोचस्तत्र कर—
शिरः पादादिसन्यासो द्रव्यसंकोचः ।
भावसंकोचस्तु विशुद्धमनसो नियोगः ॥

—प्रणिपातदण्डक-षडावश्यकटीका

द्रव्य-भाव का संकोच करना पूजा है। वहाँ हाथ, पैर, सिर, आदि को स्थिर करना द्रव्यसंकोच है तथा विशुद्ध मन का नियोग होना भावसंकोच है।

२. वचोविग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानस-संकोचो, भावपूजा पुरातनैः ॥

—अमितगति-श्रावकाचार

वचन और शरीर का संकोच करना द्रव्यपूजा है एवं मन का संकोच करना भाव पूजा है।

३. अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता।
गुरुभक्तिस्तपोज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥

—हरिभद्र-टीका ३।६

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निःसंगता, गुरुभक्ति, तप और ज्ञान—ये पूजा के आठ फूल कहलाते हैं।

४. भक्तिः श्रेयोऽनुबंधिनी।

—आदिपुराण ७।२७९

भक्ति कल्याण करनेवाली है



५ विनय-अनुशासन

१. आणानिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसम्पन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई।

—उत्तरा० १।२

जो गुरुजनों की आज्ञाओं का यथोचित पालन करता है, उनके निकट सम्पर्क में रहता है एवं उनके हर संकेत व चेष्टा के प्रति सजग रहता है—उसे विनीत कहा जाता है।

२. रायणिएसु विणयं पउंजे।

—दशवै० ८।४१

बड़ों (रत्नाधिक) के साथ विनयपूर्ण व्यवहार करो।

३. जे आयरिय-उवज्झायाणं, सुस्सूसा वयणं करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा॥

—दशवै० ९।२।१२

जो अपने आचार्य एव उपाध्यायों की सुश्रुषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करता है, उसकी शिक्षाएं (विद्याएं) वैसे ही बढ़ती है, जैसे कि जल से सीचे जाने पर वृक्ष।

४. विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य।

—दशवै० ९।२।२२

अविनीत विपत्ति (दुःख) का भागी होता है और विनीत सम्पत्ति (सुख) का।

५. जो छंदमाराहयई स पुज्जो ।

—दशवै० ९।३।१

जो गुरुजनों की भावनाओं का आदर करता है, वही शिष्य पूज्य होता है ।

६. राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा ।
नो अंतरा भासं भासिज्जा ।

—आचारांग २।३।३

अपने से बड़े गुरुजन जब बोलते हों, विचार-चर्चा करते हों, तो उनके बीच में न बोले ।

७. अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ।

—उत्तरा० १।९

गुरुजनों के अनुशासन से कुपित=क्षुब्ध नही होना चाहिए ।

८. हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ।

—उत्तरा० १।२८

प्रज्ञावान शिष्य गुरुजनों की जिन शिक्षाओं को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि दुष्ट शिष्य को वे ही शिक्षाएं बुरी लगती हैं ।

९. रमए पंडिए सासं हयं भद्दं व वाहए ।

—उत्तरा० १।३७

विनीत बुद्धिमान शिष्यों को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार प्रसन्न होता है, जिस प्रकार भद्र अश्व (अच्छे घोड़े) पर सवारी करता हुआ घुड़सवार ।

१०. बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ।

—उत्तरा० १।३७

बाल अर्थात् जड़ मूढ शिष्यों को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार खिन्न होता है, जैसे अड़ियल या मरियल घोड़े पर चढ़ा हुआ सवार ।

११. जह दूओ रायाणं, णमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा ।
वीसज्जिओवि वंदिय, गच्छइ साहूवि एमेव ।।

—आव० नि० १२३४

दूत जिस प्रकार राजा आदि के सामने निवेदन करने से पहले भी और पीछे भी नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य को भी गुरुजनों के समक्ष जाते और आते समय नमस्कार करना चाहिए ।

√१२. विणवो वि तवो, तवो पि धम्मो ।

— प्रश्नव्याकरण २।३

विनय स्वयं एक तप है, और वह आभ्यन्तर तप होने से श्रेष्ठ धर्म है ।

१३. विणओ सासणे मूलं विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तओ ?

— विशेषा० भा० ३४६८

विनय जिनशासन का मूल है, विनीत ही संयमी हो सकता है । जो विनय से हीन है, उसका क्या धर्म और क्या तप ?

१४- न विनयशून्ये गुणावस्थानम् ।

—उत्त० चूर्णि १

विनयहीन व्यक्ति में सद्गुण नहीं ठहरते ।

१५. विणयमूले धम्मे पन्नत्ते ।

—ज्ञाता धर्मकथा १।५

धर्म का मूल विनय-आचार (अनुशासन) है ।

१६. जत्थेव धम्मायरियं पासेज्जा, तत्थेव वंदिज्जा नमंसिज्जा ।

—राजप्रश्नीय ४।७६

जहां कहीं भी अपने धर्माचार्य को देखें, वहीं पर उन्हें वन्दना नमस्कार करना चाहिए ।

१७. अनाशातना बहुमानकरणं च विनयः ।

—जैनसिद्धान्तदीपिका ५।२५

आशातना नहीं करना एवं योग्य व्यक्तियों का बहुमान करना विनय है।

१८. व्रत-विद्या-वयोऽधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ।

—नीतिवाक्यामृत ११।६

व्रत, विद्या एवं उम्र में बड़ों के सामने नम्र आचरण करना विनय है।

१९. जम्हा विणयइ कम्मं, अट्ठविहं चाउरंतमोक्खाय ।
तम्हाउ वयंति विउ, विणयंति विलीणससारा ।

—स्थानांग ६।५३१ टीका

विनय आठों कर्मों को दूर करता है, उसमे चारगति के अन्त-रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है—इसीलिए सर्वज्ञ भगवान—इसको विनय कहते हैं।

२०. विनयति क्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म इतिः विनयः ।
देश-कालाद्यपेक्षया यथोचितप्रतिपत्तिलक्षणे ।

—प्रवचनसारोद्धार

क्लेशकारी आठ कर्मों को दूर करता है, इसलिए वह विनय है। देश-काल आदि की अपेक्षा से यथायोग्य प्रतिपत्ति के अर्थ में यह विनय शब्द काम आता है।

२१. विणएण णरो, गंधेण चंदणं सोमयाइ रयणियरो ।
महुररसेण अमयं, जणपियत्तं लहइ भुवणे ॥

धर्मरत्नप्रकरण, १ अधिकार

जैसे सुगन्ध के कारण चंदन, सौम्यता के कारण चन्द्रमा और मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय हैं, ऐसे ही विनय के कारण मनुष्य लोगों में प्रिय बन जाता है।

२२. न उ सच्छंदता सेया लोए किमुत उत्तरे ।

—व्यवहारभाष्य पीठिका ८६

स्वच्छन्दता लौकिक जीवन में भी हितकर नहीं है तो लोकोत्तर जीवन (साधक जीवन) में कैसे हितकर हो सकती है ?

२३. न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ।

—दशवै० ६।१।७

गुरुजनों की अवहेलना करनेवाला कभी बन्धन-मुक्त नहीं हो सकता ।

२४- जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।

—दशवै० ६।१

जिनके पास धर्मपद—धर्म की शिक्षा ले, उनके प्रति सदा विनय भाव रखना चाहिए ।

२५. जं मे बुद्धाणुसासंति सीएण फरुसेण वा ।
मम लाभो त्ति पेहाए पयओ तं पडिसुणे ।

—उत्तरा० १।२७

गुरुजन जब कठोर शिक्षा दें, तब शिष्य को सोचना चाहिए कि यह कठोर व मधुर शिक्षा मेरे लाभ के लिए है, अतः उसे साव-धानी के साथ सुनना चाहिए ।



६ विद्यार्जन का मार्ग

१ तओ दुस्सन्नप्पा—दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिते ।

—स्थानांग ३।४

दुष्ट को, मूर्ख को और बहकेहुए को प्रतिबोध देना, समझा पाना बहुत कठिन है ।

२ अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण वा ॥

—उत्तरा० ११।३

अहंकार, क्रोध, प्रमाद (विषयासक्ति), रोग और आलस्य—इन पाँच कारणों से व्यक्ति शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त नहीं कर सकता ।

३ पियं करे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई ।

उत्तरा० ११।१४

प्रिय (अच्छा) कार्य करनेवाला और प्रिय वचन बोलनेवाला अपनी अभीष्ट शिक्षा प्राप्त करने में अवश्य सफल होता है ।

४ चित्तण्णू अणुकूलो, सीसो सम्मं सुयं लहइ ।

—विशेषा० भाष्य ९३७

गुरुदेव के अभिप्राय को समझकर उसके अनुकूल चलनेवाला शिष्य सम्यग् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करता है ।

५ वुग्गाहितो न जाणति, हितएहिं हितं पि भण्णंतो ।

—बृह० भाष्य ५२२८

हितैषियों के द्वारा हित की बात कहे जाने पर भी धूर्त्तों के द्वारा

बहकाया हुआ व्यक्ति (व्युद्ग्राहित) उसे ठीक नहीं समझता अर्थात् उसे उल्टी समझता है।

६. विणओववेयस्स इह परलोगे वि विज्जाओ फलं पयच्छंति।

-- निशीथचूर्णि १३

विनयशील साधक की विद्याएं, यहां, वहां (लोक-परलोक) में सर्वत्र सफल होती हैं।

७. आमे घडे निहित्तं, जहा जलं तं घडं विणासेति।
इय सिद्धन्तरहस्सं, अण्णाहारं विणासेइ॥

—निशीथभाष्य ६२४३

मिट्टी के कच्चे घड़े में रखा हुआ जल जिसप्रकार उस घड़े को ही नष्ट कर डालता है, वैसे ही मन्दबुद्धि को दिया हुआ गम्भीर शास्त्र-ज्ञान, उसके विनाश के लिए ही होता है।

८. तद्ब्रूयात् तत्परं पृच्छेत्, तत्परो तदिच्छेत् भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥

—समाधिशतक ५३

वही बोलना चाहिए, वही दूसरों से पूछना चाहिए, उसीको इच्छा करनी चाहिए एवं उसी में तत्पर रहना चाहिए, जिससे अपना अविद्यामयरूप विद्यामय बन जाय।

९. वरमज्ञान नाशिष्टजनसेवया विद्या।

—नीतिवाक्यामृत ५।७१

ज्ञान शून्य रहना अच्छा है, लेकिन अशिष्टजनों की सेवा से विद्या प्राप्त करना ठीक नहीं है।

१०. प्रज्ञयातिशयानो न गुरुमवज्ञायेत।

—नीतिवाक्यामृत ११।२०

अधिक प्रज्ञावान् होने पर भी शिष्य गुरु की अवज्ञा न करे।

११. संदिहानोगुरुमकोपयन्नापृच्छेत् ।

- नीतिवाक्यामृत ११।१५

सन्देह होने पर शिष्य इस प्रकार से पूछे कि, गुरु कुपित न हों।

१२. विणयाहीया विज्जा देंति फलं इह परे य लोगम्मि ।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं ।।

—बृह० भाष्य ५२०३

विनयपूर्वक पढ़ी गई विद्या लोक-परलोक में सर्वत्र फलवती होती है। विनयहीन विद्या उसी प्रकार निष्फल होती है, जिस प्रकार जल के विना धान्य की खेती।

१३. पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे ।
न वि दिज्जति आभरणं, पलियत्तियकण्ण—हत्थस्स ।।

— निशीथ भा० ६२२१, बृह० भा० ७८२

जो व्यक्ति दुर्विनीत है, उसे सदाचार की शिक्षा नहीं देना चाहिए। भला जिसके हाथ पैर कटे हुए हैं, उसे कंकण और कुण्डल आदि अलंकार क्या दिए जाय ?

१४. अप्पत्तं च ण वातेज्जा, पत्तं च ण विमाणए ।

— निशीथभाष्य ६२३०

अपात्र (अयोग्य) को शास्त्र का अध्ययन नहीं कराना चाहिए, और पात्र (योग्य) को उससे वंचित नहीं रखना चाहिए।

१५. सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणइ गिह्णाइ ईहए वावि ।
ततो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा कम्मं ।।

—नन्दीसूत्र गाथा ६५

विद्याग्रहणकरने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम—

(१) सुनने की इच्छा करता है, (२) पूछता है, (३) उत्तर को सुनता है, (४) ग्रहण करता है, (५) तर्क-वितर्क से ग्रहण किये हुए अर्थ को तोलता है, (६) तोलकर निश्चय करता है,

(७) निश्चित अर्थ को धारण करता है, (८) फिर उसके अनुसार आचरण करता है।

१६ यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान्।

—नीतिवाक्यामृत ५।३२

जो ज्ञान एवं नम्रतायुक्त है, वह बुद्धिमान है।

१७ सुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहोपोहोर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धी-गुणाः ॥

—अभिधानचिन्तामणि २।२२५

(१) सुनने की इच्छा करना, (२) सुनना, (३) सुनकर तत्त्व को ग्रहण करना, (४) ग्रहण किए हुए तत्त्व को हृदय में धारण करना, (५) फिर उस पर विचार करना, अर्थात् उसे तर्क की कसौटी पर कसना, (६) विचार करने के पश्चात् उसका सम्यक् प्रकार से निश्चय करना, (७) निश्चय द्वारा वस्तु को समझना, (८) अन्त में उस वस्तु के तत्त्व की जानकारी करना—ये आठ बुद्धि के गुण हैं।

१८ सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी।

—आदिपुराण १६।६६

विद्या देवता की सम्यग्—सही विधि से आराधना करने पर वह समस्त इच्छित फल प्रदान करती है।



७ मानव-जीवन

१ चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥

—उत्तराध्ययन ३।१

संसार में चार बातें प्राणी को बड़ी दुर्लभ है—मनुष्यजन्म, धर्म का श्रवण, दृढ़श्रद्धा और संयम में प्रवृत्ति अर्थात् धर्म का आचरण।

२ जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं।

—उत्तराध्ययन ३।७

संसार में आत्माएं क्रमशः शुद्ध होते-होते मनुष्यभव को प्राप्त करती हैं।

३ माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं॥

—उत्तराध्ययन ७।१६

मनुष्य जीवन मूलधन है। देवगति उसमें लाभ रूप है। मूलधन के नाश होने पर नरक, तिर्यंचगति रूप हानि होती है।

४ दुल्लहे खलु माणुसे भवे।

—उत्तराध्ययन १०।४

मनुष्य जन्म निश्चय ही बड़ा दुर्लभ है।

५ तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा
माणुसं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुल पच्चायातिं ।
—स्थानांग ३।३

देवता भी तीन बातों की इच्छा करते हैं—

मनुष्यजीवन, आर्यक्षेत्र में जन्म और श्रेष्ठ कुलकी प्राप्ति ।

६ जिह्वे ! प्रह्वीभव त्वं सुकृति-सुचरितोच्चारणे सुप्रसन्ना,
भूयास्तामन्यकीर्ति श्रुतिरसिकतया मेऽद्यकर्णौ सुकर्णौ ।
वीक्ष्याऽन्य प्रौढ़लक्ष्मी द्रुतमुपचिनुतं लोचने ! रोचनत्वं,
संसारेऽस्मिन्नसारे फलमिति भवतां जन्मनो मुख्यमेव ।।
—शान्तसुधारस, प्रमोदभावना १४

हे जीभ ! धार्मिको के दानादि गुणों का गान करने में अत्यन्त प्रसन्न होकर तत्पर रहो। कानो ! दूसरों की कीर्त्ति सुनने में रसिक होकर सुकर्ण (अच्छे कान) बनो। नेत्रों ! दूसरों की बढ़ती हुई लक्ष्मी को देखकर प्रसन्नता प्रकट करो। इस असार-संसार में जन्म पाने का तुम्हारे लिए यही मुख्य फल है।

७ स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पाद शौचं विधत्ते,
पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्येन्धभारम् ।
चिन्तारत्नं विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं,
यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्मप्रमत्तः ।
- सिन्दूरप्रकरण ५

जो व्यक्ति आलस्य-प्रमाद के वश, मनुष्य जन्म को व्यर्थ गँवा रहा है, वह अज्ञानी मनुष्य सोने के थाल में मिट्टी भर रहा है, अमृत से पैर धो रहा है, श्रेष्ठ हाथी पर ईन्धन ढो रहा है और चिन्तामणि रत्न को काग उड़ाने के लिए फेंक रहा है।

८ धर्म

१. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।

—आचारांग १।८।३

आर्य महापुरुषों ने समभाव में धर्म कहा है।

२. एगा अहम्मपडिमा, जं से आया परिकिलेसति।

—स्थानांग १।१।३८

एक अधर्म ही ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा क्लेश पाती है।

३. एगा धम्मपडिमा, जं से आया पज्जवजाए।

—स्थानांग १।१।४०

एक धर्म ही ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा की शुद्धि होती है।

४. दुविहे धम्मे—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव।

—स्थानांग २।१

धर्म के दो रूप हैं—श्रुतधर्म=तत्त्वज्ञान, और चारित्रधर्म=नैतिक आचार।

५. चत्तारि धम्मदारा—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे।

—स्थानांग ४।४

क्षमा, संतोष, सरलता और नम्रता—ये चार धर्म के द्वार हैं।

६. असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति ।

—स्थानांग ८

अभी तक नहीं सुने हुए धर्म को सुनने के लिए तत्पर रहना चाहिए ।

७. सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए अवधारणयाए—
अब्भुट्ठेयव्वं भवति ।

—स्थानांग ८

सुने हुए धर्म को ग्रहण करने—उस पर आचरण करने को तत्पर रहना चाहिए ।

८. एगे चरेज्ज धम्मं ।

—प्रश्न० २।३

भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए ।

९ धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तापसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सूसीइभूओ पजहामि दोसं ॥

—उत्त० १२।४६

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न-लेश्या मेरा निर्मल घाट है। जहाँ पर आत्मा स्नान कर कर्ममल से मुक्त हो जाता है ।

१०. धणेण किं धम्मधुराहिगारे ?

—उत्त० १४।१७

धर्म की धुरा को खींचने के लिए धन की क्या आवश्यकता है ? (वहां तो सदाचार की जरूरत है :)

११. एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं,
न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि ।

—उत्त० १४।४०

राजन् ! एक धर्म ही रक्षा करनेवाला है, उसके सिवा विश्व में कोई भी मनुष्य का त्राता नहीं हैं ।

१२. पन्ना समिक्खए धम्मं ।

—उत्त० २३।२५

साधक की अपनी प्रज्ञा ही समय पर धर्म की समीक्षा कर सकती है ।

१३. विन्नाणेण समागम्म, धम्म साहणमिच्छिउं ।

—उत्त० २३।३१

विज्ञान (विवेक-ज्ञान) से ही धर्म के साधनों का निर्णय होता है ।

१४. पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।

—उत्त० २३।३२

धर्मों के वेष आदि के नाना विकल्प जन साधारण में प्रत्यय (परिचय-पहचान) के लिए है ।

१५. जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ।।

—उत्त० २३।६८

जरा और मरण के महाप्रवाह में डूबते प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा = आधार है, गति है और उत्तम शरण है ।

१६. लोगस्स सारं धम्मो, धम्मं पि य नाणसारियं बिंति ।
नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं ।।

—आचा० नि० २४४

विश्व – सृष्टि का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान (सम्यग्बोध) है, ज्ञान का सार संयम है, और संयम का सार निर्वाण—(शाश्वत आनन्द की प्राप्ति) है ।

१७, धर्मो बन्धुश्च मित्रश्च धर्मोऽयं गुरुरङ्गिनाम् ।
तस्माद्धर्मे मतिं धत्स्व स्वर्मोक्षसुखदायिनि ।।

—आदिपुराण १०।१०९

धर्म ही मनुष्य का सच्चा बंधु है मित्र है, और गुरु है। इसलिए स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख देनेवाले धर्म में बुद्धि को स्थिर करना चाहिए।

१८. धम्मंमि जो दढमई, सो सूरो सत्तिओ य वीरो य।
ण हु धम्मणिरुस्साहो, पुरिसो सूरो सुबलिओऽवि।
—सूत्र० नि० ६०

जो व्यक्ति धर्म में दृढ़ निष्ठा रखता है, वस्तुतः वही बलवान है, वही शूरवीर है। जो धर्म में उत्साहहीन है, वह वीर एवं बलवान होते हुए भी न वीर है, न बलवान है।

१९. धम्मो अत्थो कामो, भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता।
जिणवयणं उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥
—दशवै० नि० २६२

धर्म, अर्थ और काम को भले ही अन्य कोई परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण परस्पर असपत्न=अविरोधी हैं।

२०. जिणवयणंमि परिणाए, अवत्थविहिआणुठाणवो धम्मो।
सच्छासयप्पयोगा अत्थो, वीसंभओ कामो॥
— दशवै० नि० २६४

अपनी-अपनी भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठान रूप धर्म, स्वच्छ आशय से प्रयुक्त अर्थ, विस्रंभयुक्त (मर्यादानुकूल वैवाहिक नियंत्रण से स्वीकृत) काम—जिनवाणी के अनुसार ये परस्पर अविरोधी हैं।

२१. ण कुणइ पारत्तहियं, सो सोयइ संकमणकाले।
—आव० नि० ८३७

जो इस जन्म में परलोक की हित साधना नहीं करता, उसे मृत्यु के समय पछताना पड़ता है।

२२. तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलया चंचलं माणुसत्तं।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥
—आव० नि० ८३७

जो बड़ी मुश्किल से मिलता है, बिजली की तरह चंचल है, ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर भी जो धर्म-साधना में प्रमत्त रहता है। वह कापुरुष (अधम पुरुष) ही है, सत्पुरुष नहीं।

२३. आदा धम्मो मुणेदव्वो।
—प्रवचनसार १।८

आत्मा ही धर्म है, अर्थात् धर्म आत्मस्वरूप होता है।

२४. किरिया हि णत्थि अफला, धम्मो जदि णिप्फलो परमो।
—प्रवचन० २।२४

संसार की कोई भी मोहात्मक क्रिया निष्फल (बन्धन-रहित) नहीं है। एकमात्र धर्म ही निष्फल है, अर्थात् स्व-स्वभाव रूप होने से बन्धन का हेतु नहीं है।

२५ दंसणमूलो धम्मो।
—दर्शनपाहुड २

धर्म का मूल दर्शन—(सम्यक् श्रद्धा) है।

२६. धम्मस्स मूलं विणयं वदन्ति, धम्मो य मूलं खलु सोग्गईए।
—बृह० भाष्य ४४४१

धर्म का मूल विनय है और धर्म सद्गति का मूल है।

२७. धम्मा-धम्मा न परप्पसाय-कोपाणुवत्तिओ जम्हा।
—विशेषा० भा० ३२५४

धर्म और अधर्म का आधार आत्मा की अपनी परिणति ही है। दूसरों की प्रसन्नता और नाराजगी पर उसकी व्यवस्था नहीं है।

२८. धम्मे अणुजुत्तो सीयलो, उज्जुत्तो उण्हो।

—आचा० नि० १।३।१

धर्म में उद्यमी=क्रियाशील व्यक्ति, उष्ण=गर्म है, उद्यमहीन शीतल=ठंडा है।

२९. यस्तु आत्मनः परेषां च शान्तये, तद्भावतीर्थं भवति।

—उत्त० नि० १२

जो अपने को और दूसरों को शान्ति प्रदान करता है, वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप धर्म भावतीर्थ है।

३०. शरीरलेश्यासु हि अशुद्धास्वपि आत्मलेश्या शुद्धा भवन्ति

—उत्त० चूर्णि १२

बाहर में शरीर की लेश्या (वर्ण-आदि) अशुद्ध होने पर भी अन्दर में आत्मा की लेश्या (विचार) शुद्ध हो सकती है।

३१. देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थंकराः।

—उत्त० चूर्णि २३

तीर्थंकर देश और काल के अनुरूप धर्म का उपदेश करते हैं।

३२. सव्वसत्ताण अहिंसादिलक्खणो धम्मो पिता, रक्खणत्तातो।

—नन्दी चूर्णि १

अहिंसा-सत्य आदि धर्म सब प्राणियो का पिता है, क्योंकि वही सबका रक्षक है।

३३. गहिओ सुग्गइ मग्गो, नाहं मरणस्स बीहेमि।

—आतुर० ६३

मैंने सद्गति का मार्ग (धर्म) अपनालिया है। अब मैं मृत्यु से नही डरता।

३४. धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्समरियव्वं।
दुण्हं पि हु मरियव्वे, वरं खु धीरत्तेण मरिउं॥

—आतुर० ६४

धीर पुरुष को भी एक दिन अवश्य मरना है, और कायर को भी। जब दोनों को ही मरना है तो अच्छा है कि धीरता-शान्तभाव से ही मरा जाय।

३५. धम्मो वत्थुसहावो।

—कार्तिकेय० ४७८

वस्तु का अपना स्वभाव ही उसका धर्म है।

३६. मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं।

— मूलाचार २०२

जिनशासन (आगम) में सिर्फ दो ही बात बताई गई है—मार्ग-धर्म और मार्ग का फल—मोक्ष।

३७. नीचैर्वृत्तिरधर्मेण धर्मेणोच्चैः स्थितिं भजेत्।
तस्मादुच्चैः पदंवाञ्छन् नरो धर्मपरो भवेत्।

—आदिपुराण १०।११६

अधर्म से मनुष्य की अधोगति होती है और धर्म से ऊर्ध्वगति-ऊंचीगति। अतः जीवन में ऊर्ध्वगति चाहनेवाले को धर्म का आचरण करना चाहिए।

३८. स धर्मो यत्र नाधर्म—स्तत्सुखं यत्र नासुखम्।
तज् ज्ञानं यत्र नाऽज्ञानं, सा गतिर्यत्र नाऽगतिः॥

—आत्मानुशासन-१

धर्म वही है, जिसमें अधर्म न हो। सुख वही है, जिसमें असुख न हो। ज्ञान वही है, जिसमें अज्ञान न हो और गति वही है जिसमें आगति— लोटना न हो।

३९. सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिकोविधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्॥
श्रुतिः शास्त्रान्तरंवास्तु, प्रमाणं कात्र नः क्षतिः॥

—यशस्तिलक चम्पू

जैनों को व्यवहार के लिए लौकिकविधि—रीतिरिवाज को ही मान्य करना चाहिए, बशर्ते कि उसमें सम्यक्त्व की हानि न हो, एवं व्रतों में दोष न लगे।

४०. पीइकरो वन्नकरो, भासकरो जसकरो रइकरो य।
अभयकरो निव्वुइकरो, परत्त वि अज्जिओ धम्मो॥
—तन्दुलवैचारिक ३४

यह आर्यधर्म इह-परलोक में प्रीति, वर्ण—कीर्ति या रूप, भास—तेजस्विता या मिष्टवाणी, यश, रति, अभय एवं निर्वृत्ति-आत्मिक सुख का करनेवाला है।

४१. अबन्धूनामसौ बन्धु-रसखीनामसौ सखा।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः॥
—योगशास्त्र ४।१००

यह धर्म अबन्धुओं का बन्धु है, अमित्रों का मित्र है और अनाथों का नाथ है। अतः यही जगत में परमवत्सल है।

४२. संकल्प्य कल्पवृक्षस्य, चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं, फलं धर्मादवाप्यते॥
—आत्मानुशासन २२

कल्पवृक्ष से संकल्प किया हुआ और चिन्तामणि से चिन्तन किया हुआ पदार्थ प्राप्त होता है, किन्तु धर्म से असंकल्प्य एवं अचिन्त्य फल मिलता है।

४३. दिव्वं च गइं गच्छन्ति चरित्ता धम्ममारियं।
—उत्तराध्ययन १८।२५

आर्य धर्म का आचरण कर के महापुरुष दिव्य गति को प्राप्त होते हैं।

४४. प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दनानन्दनानां,
रम्यं रूपं सरसकविता चातुरी सुस्वरत्वम् ।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धि,
किं नु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य ।।
—शान्तसुधारस-धर्मभावना

विशाल राज्य, सुभग स्त्री, पुत्रो के पुत्र-पोते, सुन्दररूप, सरस कविता, निपुणता, मीठास्वर, नीरोगता, गुणों से प्रेम, सज्जनता सद्बुद्धि—ये सभी धर्मरूपी कल्पवृक्ष के फल है, एक जीभ से कितना कहा जाय ?

४५. दानं च शीलं च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन निरूपितः ।।
—शान्तसुधारस

सर्वज्ञ भगवान् ने दान, शील, तप और भावना—ऐसे चार प्रकार का धर्म कहा है ।

४६. तव-नियमसुट्ठियाणं, कल्लाणं जीवियंपि मरणं पि ।
जीवंतज्जंति गुणा, मया पुण सुग्गइं जंति ।।
—उपदेशमाला ४४३

तप-नियम रूप धर्म मे रहे हुये जीवों का जीना और मरना दोनों ही अच्छे है । जीवित रहकर तो वे गुणो का अर्जन करते है और मरने पर सद्गति को प्राप्त होते है ।

४७. धर्मे धर्मोपदेष्टारः, साक्षिमात्रं शुभात्मनाम् ।
—त्रिषष्ठिशलाका० २।३

धर्मात्माओं को धर्म मे प्रेरित करने के लिये उपदेशक तो साक्षिमात्र ही होते है ।

४८. आत्मशुद्धि-साधनं धर्मः । —जैनसिद्धान्तदीपिका ७२३
जिससे आत्मा की शुद्धि हो, उसे धर्म कहते है ।

४९. दुर्गतिप्रपतत्प्राणि-धारणाद्धर्म उच्यते ।

—योगशास्त्र २।११

दुर्गति मे गिरते हुए प्राणी को धारण करने से धर्म 'धर्म' कहा जाता है ।

५०. जीवदया सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सुसीलं च ।
खंति पंचिंदियनिग्गहो य धम्मस्स मूलाई ।।

—दर्शनशुद्धितत्त्व

जीवदया, सत्यवचन, पर-धन का त्याग, शील-ब्रह्मचर्य, क्षमा, पाच इन्द्रियो का निग्रह—ये धर्म के मूल है ।

५१. जह भोयणमविहिकय, विणासए विहिकयं जीयावेइ ।
तह अविहिकओ धम्मो, देइ भवं विहिकओ मुक्ख ।।

—सबोधसत्तरी ३५

जैसे अविधि से किया हुआ भोजन मारता है और विधिपूर्वक किया हुआ जीवन देता है, उसीप्रकार अविधि से किया हुआ धर्म ससार मे भटकाता है एव विधिपूर्वक किया हुआ धर्म मोक्ष देता है ।

५२. णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा ।
णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा ।।

—सूत्र० २।१।१५

खाने पीने की लालसा से धर्म-उपदेश नही करना चाहिए ।

५३. अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा,
कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेजा ।

—सूत्र० २।१।१५

साधक विना किसी भौतिक इच्छा के प्रशान्तभाव से एकमात्र कर्मनिर्जरा के लिए धर्म का उपदेश करे ।



१ अहिंसा

१. सव्वे पाणा पिआउआ,
सुहसाया दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा पियजोविणो,
जीविउकामा
सव्वेसिं जीवियं पियं
नाइवाएज्ज कंचणं ।

—आचारांग १।२।३

सब प्राणियों को अपनी जिन्दगी प्यारी है ।
सुख सब को अच्छा लगता है और दुःख बुरा ।
वध सब को अप्रिय है, और जीवन प्रिय ।
सब प्राणी जीना चाहते हैं,
कुछ भी हो, सब को जीवन प्रिय है ।
अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करो ।

२. आरंभजं दुक्खमिणं ।

—आचारांग १।३।१

यह सव दुःख आरम्भज है अर्थात् हिंसा में से उत्पन्न होता है ।

३. आयओ बहिया पास ।

—आचारांग १।३।३

अपने समान ही ~~बाहर में~~ दूसरों को भी देख ।

४. अत्थि सत्थं परेण परं,
नत्थि असत्थं परेण परं ।

—आचारांग १।३।४

शस्त्र(=हिंसा) एक से एक बढ़कर है। परन्तु अशस्त्र(=अहिंसा) एक-से-एक बढ़कर नहीं है, अर्थात् अहिंसा की साधना से बढ़कर श्रेष्ठ दूसरी कोई साधना नहीं है।

५. वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो,
एवं परुवेमो, एवं पण्णवेमो,
सव्वे पाणा, सव्वे भूया,
सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा
न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा
न उद्दवेयव्वा ।
इत्थं विजाणह नत्थित्थ दोसो ।
आरियवयणमेयं ।

—आचारांग १।४।२

हम ऐसा कहते है, ऐसा बोलते है, ऐसी प्ररूपणा करते हैं, ऐसी प्रज्ञापना करते हैं कि—

किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्व को न मारना चाहिये, न उनपर अनुचित शासन करना चाहिये, न उनको गुलामों की तरह पराधीन बनाना चाहिये, न उन्हें परिताप देना चाहिये और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए ।

उक्त अहिंसा धर्म में किसी प्रकार का दोष नहीं है, यह ध्यान में रखिये ।

अहिंसा वस्तुतः आर्य (पवित्र) सिद्धान्त है ।

६. एस खलु गंथे, एस खलु मोहे,
एस खलु मारे, एस खलु णरए।

—आचारांग १।१।२

यह आरम्भ (हिंसा) ही वस्तुतः ग्रन्थ-बन्धन है, यही मोह है, यही मार-मृत्यु है, और यही नरक है।

७. जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ।
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ।
एयं तुलमन्नेसिं।

—आचारांग १।१।४

जो अपने अन्दर (अपने सुख-दुख की अनुभूति) को जानता है, वह बाहर (दूसरों के सुख-दुख की अनुभूति) को भी जानता है। जो बाहर को जानता है, वह अन्दर को भी जानता है। इस प्रकार दोनों को, स्व और पर को एक तुला पर रखना चाहिये।

८. अप्पेगे हिंसिसु मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसति मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्तिवा वहंति।

—आचारांग १।२।६

'इसने मुझे मारा'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।
'यह मुझे मारता है'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।
'यह मुझे मारेगा'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।

९. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।

– आचारांग १।२।४

प्रत्येक व्यक्ति का सुख-दु:ख अपना अपना है।

१०. से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरम्भोवरए।

—आचारांग १।४।४

जो आरम्भ (हिंसा) से उपरत है, वही प्रज्ञानवान बुद्ध है।

११. तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि।

—आचारांग १।५।५

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।
[स्वरूपदृष्टि से सब चैतन्य एक समान है—यह अद्वैतभावना ही अहिंसा का मूलाधार है।]

१२. जेवऽन्ने एएहि काएहिं दंडं समारंभंति,
तेसिं पि वयं लज्जामो।

—आचारांग १।८।१

यदि कोई अन्य व्यक्ति भी धर्म के नामपर जीवों की हिंसा करते हैं, तो हम इससे भी लज्जानुभूति करते हैं।

१३. तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया।

—सूत्रकृतांग १।१।१।१४

परपीड़ा में लगे हुए अज्ञानी-जीव अन्धकार से अन्धकार की ओर जा रहे हैं।

१४. एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एतावत्तं वियाणिया॥

—सूत्रकृतांग १।१।४।१०

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न

करे। 'अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है,' बस इतनी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए।

१५. वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती।

—सूत्रकृतांग १।८।७

वैरवृत्ति वाला व्यक्ति जब देखो तब वैर ही करता है। वह एक के बाद एक किये जानेवाले वैर से वैर को बढाते रहने में ही आनन्द मानता है।

१६. ते आत्तओ पासइ सव्वलोए।

—सूत्रकृतांग १।१२।१८

तत्वदर्शी समग्र प्राणिजगत् को अपनी आत्मा के समान देखता है।

१७. भूएहिं न विरुज्झेज्जा।

—सूत्रकृतांग १।१५।४

किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध न बढ़ाये।

१८. किं भया पाणा ?....
दुक्खभया पाणा।
दुक्खे केण कड़े ?
जीवेणं कड़े पमाएणं !

—स्थानांग ३।२

प्राणी किससे भय पाते है ?
दुःख से।
दुःख किसने किया है ?
स्वयं आत्मा ने, अपनी ही भूल से।

१९. एगं अन्नयरं तसंपाणं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ।

—भगवती ९।३४

एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ आत्मा तत्संबन्धित अनेक जीवों की हिंसा करता है।

२०. एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ ।

—भगवती ९।३४

एक अहिंसक ऋषि की हत्या करनेवाला एक प्रकार से अनन्त जीवो की हिंसा करनेवाला होता है ।

२१. अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणंति ।

—प्रश्नव्याकरण १।१

कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते है, और कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिंसा करते है ।

२२. कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति ।

—प्रश्नव्याकरण १।१

कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते है, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते है और कुछ लोग अज्ञान से हिंसा करते है ।

२३. पाणवहो चंडो, रुद्दो, खुद्दो अणारियो,
निग्घिणो, निसंसो, महब्भयो ।

—प्रश्नव्याकरण १।१

प्राणवध (हिंसा) चड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणारहित है, क्रूर है, और महाभयकर है ।

२४. अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमंकरी ।

—प्रश्नव्याकरण २।१

अहिंसा, त्रस, और स्थावर (चर-अचर) सब प्राणियो का कुशल-क्षेम करनेवाली है ।

२५. भगवती अहिंसा····भीयाणं विवसरण ।

—प्रश्नव्याकरण २।१

जैसे भयाक्रान्त के लिए शरण की प्राप्ति हितकर है, प्राणियो के लिए वैसे ही, अपितु इससे भी विशिष्टतर भगवती अहिंसा हितकर है ।

२६. दयामूलो भवेद्धर्मो) दया प्राण्यनुकम्पनम् ।
दयायाः परिरक्षार्थं गुणा शेषाः प्रकीर्तिता ।।

—आदिपुराण ५।२१

धर्म का मूल है दया। प्राणी पर अनुकम्पा करना दया है। दया की रक्षा के लिए ही सत्य, क्षमा आदि शेष गुण बताये गये हैं।

२७. अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।

—दशवैकालिक ६।६

सब प्राणियों के प्रति स्वयं को संयत रखना—यही अहिंसा का पूर्णदर्शन है।

२८. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविऊं न मरिज्जिऊं।

—दशवैकालिक ६।११

समस्त प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता।

२९. न य वित्तासए परं।

—उत्तराध्ययन २।२०

किसी भी जीव को त्रास (कष्ट) नहीं देना चाहिए।

३०. वेराणुबद्धा नरयं उवेंति।

—उत्तराध्ययन ४।२

जो वैर की परम्परा को लम्बा किये रहते हैं वे नरक को प्राप्त होते हैं।

३१. न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए।

—उत्तराध्ययन ६।७

जो भय व वैर से उपरत-मुक्त हैं वे किसी प्राणी की हिंसा नहीं करते।

३२. अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ?

—उत्तराध्ययन १८।११

जीवन अनित्य है, क्षणभंगुर है, फिर क्यों हिंसा में आसक्त होते हो ?

३३. सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति।

—आचारांगनिर्युक्ति ६४

कुछ लोग अपने सुख की खोज में दूसरों को दुःख पहुंचा देते हैं।

३४. हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसा।

—दशवैकालिकनिर्युक्ति ४५

हिंसा का प्रतिपक्ष—अहिंसा है।

३५. अज्झत्थ विसोहीए, जीवनिकाएहि संथडे लोए।
देसियमहिंसगत्तं, जिणेहि तेलोक्कदरिसीहिं॥

—ओघनिर्युक्ति ७४७

त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों का कथन है कि अनेकानेक जीवसमूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर में अध्यात्म-विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्यहिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नही।

३६. उच्चलियंमि पाए
ईरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी,
मरिज्ज तं जोगमासज्ज॥
न य तस्स तन्निमित्तो
बंधो सुहुमोवि देसिओ समए।
अणवज्जो उ पओगेण,
सव्वभावेण सो जम्हा॥

—ओघनिर्युक्ति ७४८-४९

कभी—कभार ईर्यासमितियुक्त साधु के पैर के नीचे भी कीट, पतंग आदि क्षुद्र प्राणी आजाते है और दबकर मर भी जाते हैं—

परन्तु उक्त हिंसा के निमित्त से उस साधु को सिद्धान्त में सूक्ष्म भी कर्मबंध नही बताया है, क्योंकि वह अन्तर में सर्वतो-

भावेन उस हिंसा-व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण अनवद्य—निष्पाप है।

३७. जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ॥
जे वि न वावज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सो उ।
सवज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा॥
— ओघनिर्युक्ति ७५२।५३

जो प्रमत्त व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मर जाते हैं, वह निश्चितरूप से उन सबका हिंसक होता है।

परन्तु जो प्राणी नही मारे गये है, वह प्रमत्त उनका भी हिंसक ही है; क्योंकि वह अन्तर में तो सर्वतोभावेन हिंसावृत्ति के कारण सावद्य है—पापात्मा है।

३८. आया चेव अहिंसा, आया हिंसत्ति निच्छओ एसो।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो॥
— ओघनिर्युक्ति ७५४

निश्चय दृष्टि से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा। जो प्रमत्त है वह हिंसक है और जो अप्रमत्त है वह अहिंसक।

३९. न य हिंसामेत्तेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स उ सम्पत्ती, अफला भणिया जिणवरेहिं॥
— ओघनिर्युक्ति ७५८

केवल बाहर में दृश्यमान हिंसा से ही कोई हिंसक नहीं हो जाता। यदि साधक अन्दर में रागद्वेष से रहित शुद्ध है, तो जिनेश्वर देवों ने उसकी बाहर की हिंसा को कर्मबन्ध का हेतु न होने से निष्फल बताया है।

४०. जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स ।
सा होई निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥
—ओघनियुंक्ति ७५९

जो यतनावान साधक अन्तर-विशुद्धि से युक्त है, और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होनेवाली विराधना (हिंसा) भी कर्म-निर्जरा का कारण है ।

४१. मरदु व जियदु व जीवो,
अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो ।
हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥
—प्रवचन० ३।१७

बाहर में प्राणी मरे या जीये, अयताचारी—प्रमत्त को अन्दर में हिंसा निश्चित है । परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समितिवाला है, उसको बाहर में प्राणी की हिंसा होने मात्र से कर्मबन्ध नहीं है, अर्थात् वह हिंसा नहीं है ।

४२. चरदि जदं जदि णिच्चं, कमलं व जले णिरुवलेवो ।
—प्रवचन० ३।१८

यदि साधक प्रत्येक कार्य यतना से करता है, तो वह जल में कमल की भांति निर्लेप रहता है ।

४३. काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ ।
बृहत्कल्पभाष्य १३१९

अपने द्वारा किसी प्राणी को कष्ट पहुंचाने पर भी, जिसके मन में पश्चात्ताप नहीं होता, उसे निष्कृप-निर्दय कहा जाता है ।

४४. जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो ।
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं ॥
—बृहत्कल्पभाष्य १३२०

जो कठोरहृदय दूसरे को पीड़ा से प्रकंपमान देखकर भी प्रकम्पित नहीं होता, वह निरनुकंप अनुकंपारहित) कहलाता है। चूँकि अनुकम्पा का अर्थ ही है - कापते हुये को देखकर कंपित होना।

४५. आहच्च हिंसा समितस्स जा तु,
सा दव्वतो होति ण भावतो उ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्स,
जेवावि सत्ते ण सदा वधेति ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ३९३३

संयमी साधक के द्वारा कभी हिंसा भी हो जाय तो वह द्रव्य हिंसा होती है, भाव हिंसा नहीं। किन्तु जो असंयमी है, वह जीवन में कभी किसी का वध न करने पर भी, भावरूप से सतत हिंसा करता रहता है।

४६. जाणं करेति एक्को, हिंसमजाणमपरो अविरतो य।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतर देसितो समए ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ३९३८

एक अविरत (असंयमी) जानकर हिंसा करता है और दूसरा अनजान में। शास्त्र में इन दोनों के हिंसाजन्य कर्मबंध में महान् अन्तर बताया है। अर्थात् तीव्र भावों के कारण जानकर हिंसा करनेवाले को अपेक्षाकृत कर्मबन्ध तीव्र होता है।

४७. जं इच्छसि अप्पणतो,
ज च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि
एत्तियगं जिणसासणयं ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४५८४

जो अपने लिये चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी चाहना चाहिए, जो अपने लिये नहीं चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी नहीं

चाहना चाहिये—बस इतना मात्र जिनशासन है, तीर्थंकरों का उपदेश है।

४८. दुक्खं खु णिरणुकंपा।

—निशीथभाष्य ५६३३

किसी के प्रतिनिर्दयता का भाव रखना वस्तुतः दुःखदायी है।

४९. सव्वे अ चक्कजोही, सव्वे अ हया सचक्केहिं।

आवश्यकनिर्युक्ति ४३

जितने भी चक्रयोधी (अश्वग्रीव, रावण आदि प्रति वासुदेव) हुये हैं, वे अपने ही चक्र से मारे गये हैं।

५०. असुभो जो परिणामो सा हिंसा।

—विशेषावश्यकभाष्य १७६६

निश्चय-नय की दृष्टि से आत्मा का अशुभ परिणाम ही हिंसा है।

५१. जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सव्वजीवाणं।

—आचारांगचूर्णि १।१।६

जैसे मुझे इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख होते हैं, वैसे ही सब जीवों को होते हैं।

५२. धम्ममहिंसासमं नत्थि।

—भक्तपरिज्ञा ९१

अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।

५३. जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।

—भक्तपरिज्ञा ९३

किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी ही हत्या है, और अन्य जीव की दया अपनी ही दया है।

५४. सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।

—भगवती आराधना ७९०

अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है, सब शास्त्रों का गर्भ-उत्पत्ति-स्थान है।

५५. सव्वओ वि नईओ कमेण जह सायरम्मि निवडंति ।
तह भगवइ अहिंसा सव्वे धम्मा सम्मिल्लंति ॥
—सम्बोधसत्तरी ६

जैसेस—भी नदियां क्रमशः समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही सब धर्म अहिंसा में समा जाते हैं ।

५६. अहिंसैव संसार-मरावमृत सारणिः ।
—योगशास्त्र २।५०

संसाररूप मरुस्थल में अहिंसा ही एक अमृत का झरना है ।

५७. अहिंसैव जगन्माता ऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिःसाध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥
—ज्ञानार्णव पृ० ११५

अहिंसा ही जगत् की माता है, अहिंसा ही आनन्द का मार्ग है, अहिंसा ही उत्तम गति है तथा अहिंसा ही शाश्वत लक्ष्मी है ।

५८. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।
तत्वार्थसूत्र ७।८

प्रमत्तयोग (प्रमादपूर्वक) के द्वारा पर-प्राणों का नाश करना—हिंसा है ।

५९. हिंसन्नियं वा न कहं कहेज्जा ।
—सूत्रकृतांग १०।१०

ऐसी कोई कथा-बात भी नहीं कहनी चाहिए, जिससे हिंसा को बढ़ावा मिले ।

६०. दयाधम्मस्स खंतिए विप्पसीइज्ज मेहावी ।
—उत्तराध्ययन ५।३०

बुद्धिमान को चाहिए कि वह क्षमारूप जलसे दयारूप लता को प्रफुल्लित बनाए रखे ।

६१. अदुवा अदिन्नादाणं ।

—आचारांग १।३

हिंसा, हिंसा ही नहीं, चोरी भी है ।

६२. यत्किचित् संसारे शरीरिणां दुःख शोक भय—बीजम् ।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिसा - संभवं ज्ञेयम् ।।

—ज्ञानर्णव, पृष्ठ १२०

संसार में प्राणियों को जो भी दुःख-शोक-भय, दौर्भाग्य आदि है, उनका मूल कारण हिंसा ही है ।

३३. पंगु कुष्ठि कुणित्वादि द्रष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः ।
नीरागस्त्रसजन्तूनां हिंसा संकल्पतस्त्यजेत् ।।

—योगशास्त्र २।१६

पंगुपन, कोढ़ीपन, कुणित्व (कुबड़ापन) आदि हिंसा के बुरे फलों को देखकर विवेकवान् गृहस्थ निरपराध त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करें ।

६४. पर-दुःखविनाशिनी करुणा ।

—धर्मबिन्दु

दया, दूसरों के दुःख को दूर करनेवाली है ।

६५. यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयति—
प्रतीच्यां सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्यं कथमपि।।
यदि क्ष्मापीठं स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः,
प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वधः क्वापि सुकृतम् ।।

— सिन्दूरप्रकरण २६

यदि पानी में पत्थर तर जाय, सूर्य पश्चिम में उदय हो जाय, अग्नि ठंडी हो जाय और कदाचित् यह पृथ्वी जगत् के ऊपर हो जाय तो भी हिंसा में कभी धर्म नहीं होता ।

१० सत्य

१. तं सच्चं भगवं।

—प्रश्नव्याकरण २।२

सत्य ही भगवान है।

२. सच्चंमि धिइं कुव्वहा।

—आचारांग १।२।३

सत्य में धृति कर, सत्य मे स्थिर हो।

३. पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि।

- आचारांग १।१।३

हे मानव ! एक मात्र सत्य को ही अच्छी तरह जान ले, परख ले।

४. सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ।

- आचारांग १।३।३

जो मेधावी साधक सत्य की आज्ञा मे उपस्थित रहता है, वह मार-मृत्यु के प्रवाह को तैर जाता है।

५. जे ते उ वाइणो एवं न ते ससारपारगा।

—सूत्रकृतांग १।१।१।२१

जो असत्य की प्ररूपणा करते है, वे ससार सागर को पार नही कर सकते।

६. सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।

—सूत्रकृतांग १।६।२३

सत्य वचनों में भी अनवद्य सत्य (हिसारहित सत्यवचन) श्रेष्ठ है।

७. सादियं न मुसं बूया।

—सूत्रकृतांग १।८।१९

मन में कपट रख के झूठ न बोलो।

८. नो छायए नो वि य लूसएज्जा।

—सूत्रकृतांग १।१४।१९

उपदेशक सत्य को कभी छिपाए नहीं और न ही उसे तोड-मरोड़ कर उपस्थित करे।

९. अलियवयण···
अयसकरं, वेरकरगं···मणसंकिलेसवियरणं।

—प्रश्नव्याकरण १।२

असत्य वचन बोलने से बदनामी होती है, परस्पर वैर बढ़ता है और मन में सक्लेश होता है।

१०. असंतगुणुदीरका य संतगुणनासका य।

—प्रश्नव्याकरण १।२

असत्यभाषी लोग गुणहीन के गुणों का बखान करते हैं और गुणी के वास्तविक गुणों का अपलाप करते हैं।

११. सच्चं ·· पभासकं भवति सव्वभावाणं।

— प्रश्नव्याकरण २।२

सत्य, समस्त भाव-विषयों का प्रकाश करनेवाला है।

१२. सच्चं · लोगम्मि सारभूयं, गम्भीरतरं महासमुद्दाओ।

— प्रश्नव्याकरण २।२

संसार में सत्य' ही सारभूत है।
सत्य महा समुद्र से भी अधिक गंभीर है।

१३. सच्चं च हियं च मियं गाहणं च।

—प्रश्नव्याकरण २।२

ऐसा सत्य बचन बोलना चाहिए, जो हित, मित और ग्राह्य हो।

१४. सच्चं पि य संजमस्स उवरोहकारकं किंचि वि न वत्तव्वं।

—प्रश्नव्याकरण २।२

सत्य भी यदि संयम का घातक हो तो नहीं बोलना चाहिए।

१५. अप्पणो थवणा, परेसु निंदा।

—प्रश्नव्याकरण २।२

अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा भी असत्य के ही समकक्ष है।

१६. काय-वाङ्-मनसामृजुत्वमविसंवादित्व च सत्यम्।

—मनोनुशासनम् ६।३

शरीर, वचन एवं मन की सरलता तथा अविसंवादित्व (कथनी-करणी में एकरूपता) को सत्य कहा जाता है।

१७. अणुमाय पि मेहावी, माया मोसं विवज्जए।

—दशवैकालिक ५।२।५१

आत्मविद् साधक अणुमात्र भी माया-मृषा (दम्भ और असत्य) का सेवन न करे।

१८. विसस्सणिज्जो माया व होइ, पुज्जो गुरुव्व लोअस्स।
सयणुव्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पियो॥

—भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक ६६

सत्यवादी माता की तरह विश्वासपात्र होता है, गुरु की तरह लोगों का पूज्य होता है, तथा स्वजन की तरह वह सभी को प्रिय लगता है।

१९. सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सासकारण परम।
सच्चं सग्गद्दारं, सच्च सिद्धीइ सोपाणं।

— धर्मसंग्रह अधिकार २ श्लोक २६ टीका

सत्य यश का मूलकारण है। सत्य ही विश्वास प्राप्ति का मुख्य साधक है। सत्य स्वर्ग का द्वार है एवं सिद्धि का सोपान है।

२०. मुसावाओ उ लोगम्मि सव्वसाहुहिं गरहिओ।

—दशवैकालिक ६।१३

विश्व के सभी सत्पुरुषों ने मृषावाद (असत्य) की निन्दा की है।

२१. भासियव्वं हियं सच्चं।

—उत्तराध्ययन १६।२७

सदा हितकारी सत्य बोलना चाहिए।

२२. अन्नं भासइ अन्नं करेइ त्ति मुसावओ।

—निशीथचूर्णि ३६८८

कहना कुछ और करना कुछ—यही मृषावाद (असत्यभाषण) है।

२३. एकतः सकलं पाप-मसत्योत्थं ततोऽन्यतः।
साम्यमेव वदन्त्यार्या-स्तुलायां धृतयोस्तयोः॥

—ज्ञानार्णव, पृष्ठ १२६

एक ओर जगत् के समस्त पाप एवं दूसरी ओर असत्य का पाप—इन दोनों को तराजू में तोला जाय तो बराबर होंगे—ऐसा आर्यपुरुष कहते है।

२४. असत्यमप्रत्ययमूलकारणम्।

—सिन्दूरप्रकरण ३१

असत्य अविश्वास का मूल कारण है। अतः विश्वास चाहनेवाले को असत्य का त्याग करना चाहिए।



११ अचौर्य

१. अदत्तादाणं, अणज्जं··· अकित्तिकरण····सया साहुगरहणिज्जं।

—प्रश्नव्याकरण १।३

अदत्तादान (चोरी) ससार मे अपयश बढ़ानेवाला अनार्य कर्म है। यह सभी भले आदमियों द्वारा निदनीय है।

२. दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।

—उत्तराध्ययन सूत्र १६।२८

अस्तेय (अचौर्य) व्रत का साधक बिना किसी (स्वामी) की अनुमति के, और तो क्या, दात साफ करने के लिये एक तिनका भी नही लेता।

३. लोभाविले आययई अदत्तं।

—उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२६

जब आत्मा लोभ से कलुषित होता है तो चोरी करने को प्रवृत्त होता है। अर्थात् चोरी का प्रेरक लोभ है।

४. अनिष्टादप्यनिष्टं च अदत्तमपलक्षणे।

—हिंगुलप्रकरण

चोरी करना सबसे निकृष्ट कुलक्षण है।

५. दौर्भाग्यं च दरिद्रत्व लभते चौर्यतो नरः।

—उपदेशप्रासाद, भाग १

चोरी करने से मनुष्य दौर्भाग्य और दरिद्रता को प्राप्त होता है।

६. एकस्यैकक्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्र--पौत्रस्य पुन र्यावज्जीवं हृते धने ।

—योगशास्त्र २।६८

किसी को मारने पर तो उसे अकेले को, कुछ क्षण का ही दुख होता है, किंतु किसी का धनहरण करने पर उसे, तथा उसके पुत्र पौत्रों को जीवन भर के लिए दुःख होता ।

७. गुणा गौणत्वमायाति याति विद्या विडम्बनाम् ।
चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्यादधते पदम् ।

—ज्ञानार्णव १२८

चोरी करने से गुण छुप जाते हैं, विद्या निम्कमी हो जाती है और बदनामी सिर पर चढ़कर बोलती है ।

८. तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ।

—नीतिवाक्यामृत ८।१३

तोल-माप की अव्यवस्था व्यवहार को, (व्यापार को) दूषित कर डालती है ।

९. अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ।

—सूत्रकृतांग १०।२

विना दी हुई किसी की कोई भी चीज नहीं लेना चाहिए ।

१०. अदत्तं नाददीत स्वं ।

—योगशास्त्र २।६६

दूसरों का धन विना दिए मत लो ।

१२ ब्रह्मचर्य

१. तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं ।

—सूत्रकृतांग १।६।२३

तपो मे सर्वोत्तम तप है—ब्रह्मचर्य ।

२. बंभचेरं उत्तमतव-नियम-णाण दंसण—
चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं ।

—प्रश्नव्याकरण २।४

ब्रह्मचर्य—उत्तम तप, नियम, ज्ञान, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है ।

३. जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं भग्गं....।
जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं ।

—प्रश्नव्याकरण २।४

एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते है । एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब शील, तप विनय आदि व्रत आराधित हो जाते है ।

४. अणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कंमि बंभचेरे ।

—प्रश्नव्याकरण २।४

एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वय प्राप्त (अधीन) हो जाते है ।

५. स एव भिक्खू, जो सुद्धं चरति बंभचेरं ।

—प्रश्नव्याकरण २।४

जो शुद्धभाव से ब्रह्मचर्य पालन करता है, वस्तुत. वही भिक्षु है ।

७. देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥

—उत्तराध्ययन १६।१६

देवता, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी ब्रह्मचर्य के साधक को नमस्कार करते हैं। क्योंकि वह एक बहुत दुष्कर कार्य करता है।

८. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया, हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं, विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥

—भगवती आराधना ८७८

ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा, आत्मा में चर्या-रमण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी की पर-देह में प्रवृत्ति और तृप्ति नहीं होती।

९. द्रव्यब्रह्म अज्ञानिनां वस्तिनिग्रह, मोक्षाधिकारशून्यत्वात्।

—उत्तराध्ययनचूर्णि १६

अज्ञानी साधकों का चित्तशुद्धि के अभाव में किया जानेवाला केवल-जननेन्द्रिय-निग्रह द्रव्य ब्रह्मचर्य है, क्योंकि वह मोक्ष के अधिकार से शून्य है।

१०. वस्तीन्द्रियमनसामुपशमोब्रह्मचर्यम्।

—मनोनुशासन ६।५

जननेन्द्रिय, इन्द्रियसमूह और मन की शांति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

११. नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलै - र्नदीनैर्नाक्षनिर्जितैः।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं, ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥

ज्ञानार्णव, पृष्ठ १३३

अल्पशक्तिवाले, सदाचाररहित, दीन और इन्द्रियों द्वारा जीते गये लोग इस ब्रह्मचर्य को स्वप्न में भी नहीं पाल सकते।

१४. कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः ।
राजयक्ष्मादि रोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ।।

—योगशास्त्र २।७८

मैथुन से कँप-कँपी, स्वेद-पसीना, श्रम-थकावट, मूर्छा-मोह भ्रमि-चक्कर आना, ग्लानि—अंगों का टूटना, शक्ति का विनाश, राज्ययक्ष्मा—क्षयरोग तथा अन्य खाँसी, श्वास आदि रोगों की उत्पत्ति होती है ।

१५. कुलशीलसमैः सार्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ।

—योगशास्त्र १।४७

समानकुल और समानशीलवाली अन्य गोत्र में उत्पन्न कन्या के साथ विवाह करनेवाला आदर्श गृहस्थ होता है ।

१६. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ।

—नीतिवाक्यामृत ३।२

धर्म और धन का नाश न करते हुए काम का सेवन करना उचित है ।

१७. प्राणसंदेह - जननं परमं वैरकारणम् ।
लोकद्वयविरुद्धं च, परस्त्रीगमनं त्यजेत् ।।

—योगशास्त्र २।९७

परस्त्रीगमन प्राण-नाश के सन्देह को उत्पन्न करनेवाला है, परम वैर का कारण है और इहलोक-परलोक—ऐसे दोनों लोकों को नष्ट करनेवाला है, अतः परस्त्रीगमन को त्याग देना चाहिए।

१८. सर्वस्वहरणं बन्धं, शरीरावयवच्छिदाम् ।
मृतश्च नरकं घोरं, लभते पारदारिकः ।।

—योगशास्त्र २।९८

परस्त्रीगामी पुरुष को यहाँ सर्व धन का नाश, जेल आदि का बन्धन एवं शरीर के अवयवों का छेदन प्राप्त होता है और वह मरकर घोर नरक में जाता है ।

१३ अपरिग्रह

१. बहुंपि लद्धुं न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ।

—आचारांग १।२।५

अधिक मिलने पर भी संग्रह न करे ।
परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे ।

२. परिग्गहनिविट्ठाणं वेरं तेसिं पवड्ढई ।

—सूत्रकृतांग १।६।३

जो परिग्रह (संग्रहवृत्ति) में फँसे है, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढाते है ।

३. लोभ-कलि-कसाय-महक्खंधो,
चिंतासयनिचयविपुलसालो ।

—प्रश्न० १।५

परिग्रह रूपी वृक्ष के स्कन्ध अर्थात् तने हं—लोभ, क्लेश और कषाय । चिन्ता रूपी सैकड़ो ही सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखायें है ।

४. नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि,
सव्वजीवाणं सव्वलोए ।

—प्रश्न० १।५

संसार मे परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई जाल एवं बन्धन नहीं है ।

५. अपरिग्गहसंवुडेणं लोगंमि विहरियव्वं ।

—प्रश्न० २।३

अपने को अपरिग्रह भावना से संवृत (संयत) बनाकर लोक में विचरण करना चाहिए ।

६. जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से

—दशवैकालिक ६।१६

जो सदा संग्रह की भावना रखता है वह साधु नही, किंतु (साधुवेष में) गृहस्थ ही है ।

७. मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।

– दशवैकालिक ६।२१

मूर्च्छा को ही वस्तुत: परिग्रह कहा है ।

८. मूर्च्छा परिग्रहः

—तत्वार्थसूत्र ७।१२

मूर्च्छा ही परिग्रह है ।

९. अध्यात्मविदो मूर्च्छां परिग्रहं वर्णयन्ति ।

—प्रशमरति

अध्यात्मवेत्ता वास्तव मे मूर्च्छा को ही परिग्रह बताते है ।

१०. प्राज्ञस्याऽपि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ।

—सूत्रकृतांगटीका १।१।१

परिग्रह (अज्ञानियों के लिए तो क्या) बुद्धिमानो के लिए भी मगर की तरह क्लेश एवं विनाश का कारण है ।

११. किं न क्लेशकरः परिग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिगतः ।

—सिन्दूरप्रकरण ४१

नदी के वेग की तरह बढा हुआ परिग्रह भी क्या-क्या क्लेश पैदा नही करता ?

१२. सर्वभावेषुमूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।

—त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित

सभी पदार्थों पर से आसक्ति हटा लेना ही अपरिग्रह व्रत है ।

१३. अतिरेगं अहिगरणं ।

—ओघनि० ७४५

आवश्यकता से अधिक एवं अनुपयोगी उपकरण (सामग्री) रखना अधिकरण (क्लेशप्रद एवं दोषरूप) हो जाते हैं ।

१४. अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो ।

—समयसार २१२

वास्तव में अनिच्छा (इच्छामुक्ति) को ही अपरिग्रह कहा है ।

१५. अप्पगाहा, समुद्दसलिले सचेल-अत्थेण ।

—सूत्रपाहुड २७

ग्राह्य वस्तु में से भी अल्प (आवश्यकतानुसार) ही ग्रहण करना चाहिये । जैसे समुद्र के अथाह जल में से अपने वस्त्र धोने के योग्य अल्प जल ही ग्रहण किया जाता है ।

१६. गंथोऽगंथो व मओ मुच्छा मुच्छाहि निच्छयओ ।

—विशेषावश्यकभाष्य, २५७३

निश्चयदृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी । यदि मूर्छा है तो परिग्रह है, मूर्छा नहीं है तो परिग्रह नहीं है ।

१७. आरंभपूर्वको परिग्रहः ।

—सूत्रकृतांगचूर्णि १।२।२

परिग्रह (धन संग्रह) बिना हिंसा के नहीं होता ।

१८. अत्थो मूलं अणत्थाणं ।

—मरणसमाधि० ६०३

अर्थ, अनर्थों का मूल है ।

१४ अभयव्रत

१. दाणाणसेट्ठं अभयप्पयाणं ।

—सूत्र० १।६।२३

अभयदान ही सर्व श्रेष्ठ दान है ।

२. ण भाइयव्वं, भीतं खु भया अइंति लहुयं ।

—प्रश्न० २।२

भय से डरना नही चाहिए । भयभीत मनुष्य के पास भय शीघ्र आते है ।

३. भीतो अबितिज्जओ मणुस्सो ।

—प्रश्न० २।२

भयभीत मनुष्य किसी का सहायक नही हो सकता ।

४. भीतो भूतेहिं घिप्पइ ।

—प्रश्न० २।२

भयाकुल व्यक्ति स्वय भूतो का शिकार होता है ।

५. भीतो अन्न पि हु भेसेज्जा ।

—प्रश्न० २।२

स्वय डरा हुआ व्यक्ति दूसरो को भी डरा देता है ।

६. भीतो तवसंजमं पि हु मुएज्जा ।
भीतो य भर न नित्थरेज्जा ।

—प्रश्न० २।२

भयभीत व्यक्ति तप और संयम की साधना छोड़ बैठता है। भयभीत किसी भी गुरुतर दायित्व को नहीं निभा सकता है।

७. न भाइयव्वं भयस्स वा, वाहिस्स वा,
रोगस्स वा, जराएवा, मच्चुस्स वा।

—प्रश्न० २।२

आकस्मिक भय से, व्याधि (मन्दघातक कुष्ठादि रोग) से, रोग (शीघ्रघातक हैजा आदि) से बुढ़ापे से, और तो क्या, मृत्यु से भी कभी डरना नहीं चाहिए।

८. दाणाणं चेव अभयदाणं।

—प्रश्न० २।४

सब दानों मे अभयदान श्रेष्ठ है।

९. जो ण कुणइ अवराहे, सो णिस्संको दु जणवए भमदि।

—समयसार ३०२

जो किसी प्रकार का अपराध नहीं करता, वह निर्भय होकर जनपद में भ्रमण कर सकता है। इसी प्रकार निरपराध—निर्दोष आत्मा (पाप नहीं करनेवाला) भी सर्वत्र निर्भय होकर विचरता है।

१०. अभयदाया भवाहि य।

—उत्तराध्ययन १८।११

सब को अभयदान देनेवाले बनो!

११. निब्भएण गतव्वं।

—निशीथचूर्णि २७३

जीवन पथ पर निर्भय होकर विचरण करना चाहिए।



१५ कषाय

१. सुह-दुक्खसहियं, कम्मखेत्तं कसन्ति जे जम्हा।
कलुसंति जं च जीवं, तेण कसाय त्ति वुच्चंति ॥

—प्रज्ञापनापद १३, टीका

सुख-दुःख के फलयोग्य—ऐसे कर्मक्षेत्र का जो कर्षण करता है, और जो जीव को कलुषित करता है, उसे कषाय कहते हैं।

२. होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो, तध ण पित्तउम्मत्तो।

—भगवती आराधना १३१

वात, पित्त आदि विकारों से मनुष्य वैसा उन्मत्त नहीं होता, जैसा कि कषायों से उन्मत्त होता है। कषायोन्मत्त ही वस्तुतः उन्मत्त है।

३. जस्स वि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स।
सो बालतवस्सीवि व गयण्हाणपरिस्समं कुणइ ॥

—दशवैकालिकनिर्युक्ति ३००

जिस तपस्वी ने कषायों को निगृहीत नहीं किया, वह बाल-तपस्वी है, उसके तपरूप में किए गए सब कायकष्ट गजस्नान की तरह व्यर्थ हैं।

४. सामन्नमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्लं व निप्फलं तस्स सामन्नं ॥

—दशवैकालिकनिर्युक्ति ३०१

श्रमणधर्म का अनुकरण करते हुए भी जिसके क्रोध आदि कषाय उत्कट हैं तो उसका श्रमणत्व वैसा ही निरर्थक है, जैसा कि ईख का फूल।

५. अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
ण हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु ते बहूं होइ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति १२०

ऋण, व्रण (घाव) अग्नि और कषाय, यदि इनका थोड़ा-सा अंश भी है तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ये अल्प भी समय पर बहुत [विस्तृत] हो जाते हैं।

६. अकसायं खु चरित्तं, कसायसहिओ न संजओ होई।
—बृहत्कल्पभाष्य २७१२

अकषाय [वीतरागता] ही चारित्र है। अतः कषायभाव रखने वाला संयमी नहीं होता।

७. जह कोहाइ विवढ्ढी, तह हाणी होइ चरणे वि।
—निशीथभाष्य २७९

ज्यों-ज्यों क्रोधादि कषाय की वृद्धि होती है। त्यों-त्यों चारित्र की हानि होती है।

८. जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
त पि कमाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेणं॥
—निशीथभाष्य २७९३

देसोनकोटिपूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र अर्जित किया है, वह अन्तर्मुहूर्त भर के प्रज्वलित कषाय से नष्ट हो जाता है।

९. कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो॥
—दशवैकालिक ८।३७

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारों कषाय पाप की वृद्धि करने वाले है, अतः आत्मा का हित चाहनेवाला साधक इन दोषों का परित्याग कर दे ।

१०. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो ॥

—दशवैकालिक ८।३८

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मैत्री का और लोभ सभी सद्गुणों का विनाश कर डालता है ।

११. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभ संतोसओ जिणे ॥

—दशवैकालिक ८।३९

क्रोध को शान्ति से, मान को मृदुता-नम्रता से, माया को ऋजुता-सरलता से और लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिये ।

१२. चत्तारि कसाया सिंचंति मूलाई पुणब्भवस्स ।

—दशवैकालिक ८।४०

चार कषाये पुनर्जन्म रूप बेल को प्रतिक्षण सींचते रहते है ।

१३. अहे वयइ कोहेण, माणेण अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥

— उत्तराध्ययन ९।५४

क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है । मान से अधमगति प्राप्त करता है । माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । लोभ से इसलोक और परलोक—दोनों में ही भय—कष्ट होता ।

१४. कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जलं ।

—उत्तराध्ययन २३।५३

कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) को अग्नि कहा है। उसको बुझाने के लिए श्रुत [ज्ञान], शील, सदाचार और तप जल के समान है।

१५ मसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया ।

—आचारांगनिर्युक्ति १८९

संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है।



क्रोध

१. पव्वयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे।
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ॥

—स्थानांग ४।२

पर्वत की दरार के समान जीवन में कभी नही मिटनेवाला उग्र क्रोध आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है।

२. कुद्धो····सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज।

—प्रश्नव्याकरण २।२

क्रोध में अंधा हुआ व्यक्ति, सत्य, शील और विनय का नाश कर डालता है।

३. जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे।
बुज्झइ से अविणायप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा।

—दशवैकालिक ६।२।३

जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, (कटुभाषी) कपटी और धूर्त है, वह संसार के प्रवाह में वैसे ही बह जाता है, जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ।

४. अप्पाणं वि न कोवए।

-- उत्तराध्ययन १।४०

अपने-आप पर भी कभी क्रोध न करो।

५. कोहविजए णं खंतिं जणयई।

—उत्तराध्ययन २६।६७

क्रोध को जीत लेने से क्षमाभाव जागृत होता है।

६. पासम्मि बहिणिमायं, सिसुं पि हणेइ कोहंधो।

—वसुनन्दिश्रावकाचार ६७

क्रोध में अन्धा हुआ व्यक्ति पास में खड़ी मां, बहन और बच्चे को भी मारने लग जाता है।

७. कोवेण रक्खसो वा, णराण भीमो णरो हवदि।

—भगवती आराधना १३६१

क्रुद्ध मनुष्य राक्षस की तरह भयङ्कर बन जाता है।

८. रोसेण रुद्दहिदओ, णारगसीलो णरो होदि।

—भगवतीआराधना १३६६

क्रोध से मनुष्य का हृदय रौद्र बन जाता है, वह मनुष्य होने पर भी नारक (नरक के जीव) जैसा आचरण करने लग जाता है।

९. कोहेण अप्पं डहित परं च, अत्थं च धम्मं च तहेव कामं।
तिव्वंपि वेरं य करेंति कोधा, अधम गतिं वाविउर्विति कोहा॥

— ऋषिभाषित ३६।१३

क्रोध से आत्मा 'स्व' एव 'पर' दोनों को जलाता है अर्थ-धर्म-काम को जलाता है, तीव्र वैर भी करता है तथा नीचगति को प्राप्त करता है।

१०. भस्मी भवति रोषेण पुंसां धर्मात्मकं वपुः।

—शुभचन्द्राचार्य

क्रोध से मनुष्य का धर्म प्रवृत्ति रूप शरीर जल जाता है।

११. उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः।

—नीतिवाक्यामृत १०।१३४

गर्म होना सभी कार्यो की सिद्धि मे पहला विघ्न है।

१२. न कस्यापि क्रुद्धस्य पुरस्तिष्ठेत्।

—नीतिवाक्यामृत ७।७

क्रुद्ध व्यक्ति के सामने खड़े मत रहो! फिर चाहे वह कोई भी हो।



१७ अभिमान

१. बालजणो पगब्भई ।

—सूत्र० १।१।१।२

अभिमान करना अज्ञानी का लक्षण है ।

२. अन्नं जणं पस्सति बिंबभूयं ।

—सूत्र० १।१३।८

अभिमानी अपने अहंकार में चूर होकर दूसरों को सदा बिम्बभूत (परछाई के समान तुच्छ) मानता है ।

३. अन्नं जणं खिसइ बालपन्ने ।

—सूत्र० १।१३।१४

जो अपनी प्रज्ञा के अहंकार में दूसरों की अवज्ञा करता है, वह मंदबुद्धि (बालप्रज्ञ) है ।

४. सेलथंभसमाणं माणं अणुपविट्ठे जीवे,
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।

—स्थानांग ४।२

पत्थर के खम्भे के समान जीवन में कभी नहीं झुकनेवाला अहंकार आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है ।

५. माणविजए णं मद्दवं जणयई ।

—उत्तराध्ययन २९।६८

अभिमान को जीत लेने से मृदुता (नम्रता) जागृत होती है ।

६. सयणस्स जणस्स पिओ, णरो अमाणी सदा हवदि लोए।
णाणं जसं च अत्थं, लभदि सकज्जं च साहेदि॥

—भगवती आराधना १३७९

निरभिमानी मनुष्य जन और स्वजन—सभी को सदा प्रिय लगता है। वह ज्ञान, यश और सम्पत्ति प्राप्त करता है तथा अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध कर सकता है।

७. मानश्चित्तोन्नतिः।

— अभिधान-चिन्तामणि २।२३१

मन की उद्धतता का नाम ही मान है।

८. जे माणदंसी से मायादंसी।

—आचारांग ३।४

जो मान करता है, उसके हृदय मे माया भी रहती है।

९. उन्नयमाणे य नरे महामोहे पमुज्झइ।

—आचारांग ५।४

अभिमान करता हुआ मनुष्य महान मोह से मूढ़ होकर विवेक-शून्य हो जाता है।

१०. जाति-लाभ-कुलैश्वर्य - बल-रूप-तपः श्रुतैः।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः॥

—योगशास्त्र ४।१३

जाति-लाभ-कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और ज्ञान का मद करता हुआ जीव भवान्तर मे हीन-जाति आदि को प्राप्त करता है।

११. से असइं उच्चागोए, असइं नीयागोए।
नो हीणे, नो अइरित्ते।

—आचारांग १।२।३

यह जीवात्मा अनेक बार उच्चगोत्र में जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्र में।

इस प्रकार विभिन्न गोत्रों में जन्म लेने मात्र से न कोई आत्मा हीन होता है और न कोई महान्।



माया

१. जइ वि य णिगणे किसे चरे, जइ वि य भुंजेमासमंतसो ।
जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भाऽणंतसो ।।

—सूत्रकृतांग १।२।१।६

भले ही नग्न रहे, मास-मास का अनशन करे और शरीर को कृश एवं क्षीण कर डाले, किन्तु जो अन्दर में दम्भ रखता है, वह जन्म-मरण के अनन्तचक्र में भटकता ही रहता है ।

२. माई पमाई पुण एइ गब्भं ।

—आचारांग १।३।१

मायावी और प्रमादी बार-बार गर्भ मे अवतरित होता है, जन्म मरण करता है ।

३. वंसीमूलकेतणसमाणं मायं अणुपविट्ठे जीवे,
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।

—स्थानांग ४।२

बांस की जड़ के समान अतिनिविड़-गांठदार दम्भ आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।

४. मायी विउव्वइ, नो अमायी विउव्वइ ।

—भगवती १३।६

जिसके अन्तर में माया का अंश है, वही विकुर्वणा (नाना रूपों का प्रदर्शन) करता है । अमायी (सरल आत्मावाला) नहीं करता ।

५. मायाविजएणं अज्जवं जणयइ।

—उत्तराध्ययन २९।६९

माया को जीत लेने से ऋजुता (सरल-भाव) प्राप्त होती है।

६. सच्चाण सहस्साण वि, माया एक्कावि णासेदि।

—भगवती-आराधना १३८४

एक माया (कपट)–हजारों सत्यों का नाश कर डालती है।

७. माई अवण्णवाई, किव्विसियं भावणं कुव्वइ।

—बृहत्कल्पभाष्य १३०२

जो मायावी है और सत्पुरुषों की निन्दा करता है, वह अपने लिए किल्विषिक भावना (पापयोनि की स्थिति) पैदा करता है।

८. मायामोसं वड्ढई लोभदोसा।

—उत्तराध्ययन३२।३०

माया- मृषावाद लोभ के दोषों को बढ़ाता है।

९. खड्गधारां मधुलिप्तां, विद्धि मायामृषां ततः।

—हिंगुलप्रकरण

मायायुक्त मृषा को मधुलिप्त तलवार की धार के समान समझो।

१०. माया तैर्यग्योनस्य।

—तत्वार्थसूत्र ६।२७

माया तिर्यंचयोनि को देनेवाली है। (तिर्यंच माया के कारण ही बांके होकर चलते हैं।)

११, भुवनं वञ्चयमाना, वंचयन्ति स्वमेव हि।

—उपदेशप्रासाद

जगत् को ठगते हुए कपटीपुरुष वास्तव में अपने आप को ही ठगते हैं।

१२. व्यसनशतसहायां दूरतो मुंच मायाम्।

—सिन्दूरप्रकरण ५६

सैकड़ों दुःख देनेवाली माया को दूर से ही छोड़ दो।

१३. काष्ठपात्र्यामकदैव पदार्थोरध्यते।

—नीतिवाक्यामृत ८।२२

काठ की हांडी में एक बार ही पदार्थ पकाया जा सकता है, दूसरी बार नहीं, वैसे ही माया-कपट से एक बार ही आदमी अपना काम निकाल सकता है, दूसरी बार कोई उसके कपट जाल में नहीं फंसता।



१९ लोभ

१. इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ।

—उत्तराध्ययन ९।४८

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं—असीम हैं ।

२. लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोसं वयणाए ।

—आचारांग २।३।१५।२

लोभ का प्रसंग आने पर व्यक्ति असत्य का आश्रय ले लेता है ।

३. ममाइ लुप्पइ बाले ।

—सूत्रकृतांग १।१।१।४

'यह मेरा है—वह मेरा है'—इस ममत्व-बुद्धि के कारण ही बाल-जीव (मूर्खप्राणी) विलुप्त होते हैं—संसार में भटकते हैं ।

४. सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेग चरंति पासेणं ।

—सूत्रकृतांग १।४।१।८

निर्भय अकेला विचरनेवाला सिंह भी मांस के लोभ से जाल में फंस जाता है । (वैसे ही आसक्तिवश मनुष्य भी) ।

५. अन्ने हरन्ति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिं किच्चती ।

—सूत्रकृतांग १।९।४

यथावसर संचित धन को तो दूसरे उड़ा लेते है, और संग्रही को अपने पाप कर्मों का दुष्फल भोगना पड़ता है ।

६. किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभं अणुपविट्ठे जीवे,
कालं करेइ नेरइएसु उववज्जति ।

—स्थानांग ४।२

कृमिराग अर्थात् मजीठ के रंग के समान जीवन में कभी नहीं छूटनेवाला लोभ आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है ।

७. इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू ।

—स्थानांग ६।३

लोभ, मुक्तिमार्ग का बाधक है ।

८. लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं ।

---प्रश्नव्याकरण २।२

मनुष्य लोभग्रस्त होकर झूठ बोलता है ।

९. कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज इक्कस्स ।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ।।

—उत्तराध्ययन ८।१६

धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाय, तब भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता— इस प्रकार आत्मा की यह तृष्णा बड़ी दुष्पूर (पूर्ण होना कठिन) है ।

१०. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दो मासकय कज्जं, कोडिए वि न निट्ठियं ।।

—उत्तराध्ययन ८।१७

ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यो-त्यों लोभ होता है । इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता ही जाता है । दो माशा सोने से संतुष्ट होनेवाला करोड़ो (स्वर्णमुद्राओं) से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाया ।

११. लोभ विजएणं संतोसं जणयई ।

—उत्तराध्ययन २९।७०

लोभ को जीत लेने से संतोष की प्राप्ति होती है ।

१२. सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहिं।
सव्वोदही जलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ ॥

—ऋषिभाषित ३।१०

बाहर से जलती हुई अग्नि को थोड़े से जल से शान्त किया जा सकता है। किन्तु मोह अर्थात् तृष्णारूपी अग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी शान्त नहीं किया जा सकता।

१३. भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया।

—उत्तराध्ययन २३।४८

संसार की तृष्णा भयंकर फल देनेवाली विष-बेल है।

१४. सव्वं जगं जइ तुब्भं, सव्वं वा वि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं नेवं ताणाय तं तव ॥

—उत्तराध्ययन १४।३९

यदि यह जगत् और सब जगत् का सब धन भी तुम्हें दे दिया जाय, तब भी वह (जरा-मृत्यु आदि से) तुम्हारी रक्षा करने में अपर्याप्त—असमर्थ है।

१५. इच्छा लोभं न सेविज्जा।

—आचारांग ८।८।२३

इच्छा एवं लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए।

१६. इच्छा बहुविहा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छामणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधति ॥

—ऋषिभाषित ४०।१

संसार में इच्छाएँ अनेक प्रकार की हैं, जिनसे बंधकर जीव दुःखी होता है। अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतकर साधक सुख पाता है।

१७. प्रथममशनपानप्राप्तिवाञ्छाविहस्ता
स्तदनु वसनवेश्माऽलङ्कृतिव्यग्रचित्ताः ।
परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान्,
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन् ॥

—शान्तसुधारस-कारुण्यभावना

रोटी, पानी, कपड़ा, घर, आभूषण, स्त्री, सन्तान एवं इन्द्रियों के इष्ट शब्दादि विषयों की अभिलाषा में व्याकुल बने हुए संसारी जीव स्वस्थता का स्वाद कैसे ले सकते है ?

१८, भूशय्या भैक्ष्यमशनं, जीर्णवासो वनं गृहम् ।
तथापि निःस्पृहस्याहो ! चक्रिणोप्यधिकं सुखम् ॥

—ज्ञानसार

चाहे भूमि का शयन है, भिक्षा का भोजन है, पुराने कपड़े हैं एवं वन में घर है, फिर भी निःस्पृह मनुष्य को चक्रवर्ती से भी अधिक सुख है ।

१९. लोभमूलानि पापानि, रसमूलानि व्याधयः ।
स्नेहमूलानि शोकानि त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भव ॥

उपदेशमाला

लोभ पापों का मूल है, रसासक्ति रोगो का मूल है और स्नेह शोकों का मूल है । इन तीनों को त्यागकर सुखी बनो !



२० संतोष

१. संतोसिणो नो पकरेंति पावं ।

—सूत्रकृतांग १।१२।१५

संतोषी साधक कभी कोई पाप नहीं करते ।

२. संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ।

—दशवैकालिक ९।३।५

जो संतोष के पथ में रमता है, वही पूज्य है ।

३. सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।

—उत्तराध्ययन ३२।४२

शब्द आदि विषयों में अतृप्त और परिग्रह में आसक्त रहनेवाला आत्मा कभी संतोष को प्राप्त नहीं होता ।

४. असंतुट्ठाणं इह परत्थ य भयं भवति ।

आचारांगचूर्णि १।२।२

असंतुष्ट व्यक्ति को यहां, वहाँ सर्वत्र भय रहता है ।

५. असन्तोषवतः सौख्यं न शक्रस्य न चक्रिणः ।

—योगशास्त्र २।११६

असंतोषी इन्द्र को व चक्रवर्ती को भी सुख नहीं मिलता ।

२१ स्वाध्याय

१. सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे ।

—उत्तराध्ययन २६।१०

स्वाध्याय करते रहने मे समस्त दुःखों से मुक्ति मिल जाती है ।

२. सज्झायं च तवो कुज्जा सव्वभावविभावणं ।

—उत्तराध्ययन २६।३७

स्वाध्याय सब भावो (विपयों) का प्रकाश करनेवाला है ।

३. सज्झाएणं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेई ।

— उत्तराध्ययन २९।१८

स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादन करनेवाले) कर्म का क्षय होता है ।

४. न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झाय सम तवोकम्मं ।

— बृहत्कल्पभाष्य ११६९

स्वाध्याय के समान दूसरा तप न कभी अतीत में हुआ है, न वर्तमान में कही है और न भविप्य में कभी होगा ।

५. सुष्ठु आ-मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः ।

—स्थानांग-टीका ५।३।४६५

सत्‌शास्त्र को मर्यादापूर्वक पढ़ना स्वाध्याय है ।

६. जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पचक्खओ न उवलद्धो ।
जच्चंधस्स व चन्दो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥
—बृहत्कल्पभाष्य १२२४

शास्त्र का बार-बार अध्ययन कर लेने पर भी यदि उसके अर्थ की साक्षात् स्पष्ट अनुभूति न हुई हो, तो वह अध्ययन वैसा ही अप्रत्यक्ष रहता है, जैसा कि जन्मान्ध के समक्ष चन्द्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहता है।

७. यस्माद् रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
संत्रायते च दुःखा-च्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः ॥
—प्रशमरति १८७

राग-द्वेष से उद्धत चित्तवालों को धर्म में अनुशासित करता है एवं उन्हें दुःख से बचाता है, अतएव वह सत्पुरुषों द्वारा 'शास्त्र' कहलाता है (शास्त्र शब्द में दो धातुएँ मिली हैं—शाशु और त्रेङ्—इनका अर्थ क्रमशः अनुशासन करना और रक्षा करना है।)

८. आलोचनागोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम् ।
—नीतिवाक्यामृत ५।३५

आलोचना योग्य पदार्थों को जानने के लिये शास्त्र मनुष्य का तीसरा नेत्र है। अतः शास्त्र का स्वाध्याय करते रहना चाहिए।



२२ सद्गुण अपनाओ !

१. गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तुव्व पावओ भाइ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो ॥
—बृहत्कल्पभाष्य २४५

गुणवान व्यक्ति का वचन घृतसिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी होता है, जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित (तैल-शून्य) दीपक की तरह तेज और प्रकाश से शून्य होता है।

२. आयरियस्स वि सीसो सरिसो सव्वे हि वि गुणेंहिं।
—उत्तराध्ययननिर्युक्ति ५८

यदि शिष्य गुण सम्पन्न है, तो वह अपने आचार्य के समकक्ष माना जाता है।

३. अंबत्तणेण जीहाइ कूइया होइ खीरमुदगम्मि।
हंसो मोत्तूण जलं, आपियइ पयं तह सुसीसो ॥
—बृहत्कल्पभाष्य ३४७

हंस जिस प्रकार अपनी जिह्वा की अम्लता-शक्ति के द्वारा जल-मिश्रित दूध में से जल को छोड़कर दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सुशिष्य दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों को ग्रहण करता है।

४. चउहिं ठाणेहिं संते गुणे नासेज्जा—
कोहेणं, पडिनिवेसेणं, अकयण्णुयाए मिच्छित्ताभिणिवेसेणं।
—स्थानांग ४।४

क्रोध, ईर्ष्या-डाह, अकृतज्ञता और मिथ्या आग्रह—इन चार दुर्गुणों

के कारण मनुष्य के विद्यमान गुण भी नष्ट हो जाते हैं।

५. गुणेहिं साहू, अगुणेहिंऽसाहू,
गिण्हाहि साहू, गुण मुञ्चऽसाहू।

—दशवैकालिक ९।३।११

सद्गुण से साधु कहलाता है, दुर्गुण से असाधु। अतएव दुर्गुणों को त्याग कर सद्गुणों को ग्रहण करो।

६. कंखे गुणे जाव सरीरभेऊ।

—उत्तराध्ययन ४।१३

जब तक जीवन है (शरीर-भेद न हो) सद्गुणों की आराधना करते रहना चाहिए।

७. नवं वयो न दोषाय न गुणाय दशान्तरम्।
नवोऽपीन्दु जनाह्लादी दहत्यग्निर्जरन्नपि॥

—आदिपुराण १८।१२०

यह मानना ठीक नहीं है कि नई उम्र (जवानी) दोष से युक्त एवं वृद्ध अवस्था गुणों से भरपूर ही होती है। क्या नव-चन्द्र लोगों के मन को प्रसन्न नही करता और क्या पुरानी अग्नि जलाती नहीं? भाव है, वस्तु में गुण देखना चाहिए नया-पुराना-पन नहीं।

८. गुणगृह्योहि सज्जनः।

—आदिपुराण १।३७

सज्जन सदा गुणों को ही ग्रहण करते है।



२३ तितिक्षा

१. एस वीरे पसंसिए,
जे ण णिविज्जति आदाणाए।

—आचारांग १।२।४

जो अपनी साधना में उद्विग्न नहीं होता, वही वीर साधक प्रशंसित होता है।

२. वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा।

—आचारांग १।८।८।२१

सब प्रकार से शरीर का मोह छोड़ दीजिए, फलतः परीषहों के आने पर विचार कीजिए कि मेरे शरीर में परीषह है ही नहीं।

३. दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा।

—सूत्रकृतांग १।७।२९

दुःख आ जाने पर भी मन पर संयम (समता) रखना चाहिए।

४. तितिक्खं परमं नच्चा।

—सूत्रकृतांग १।८।२६

तितिक्षा को परम-धर्म समझ कर आचरण करो।

५. वुच्चमाणो न संजले।

—सूत्रकृतांग १।९।३१

साधक को कोई दुर्वचन कहे, तो भी वह उस पर गरम न हो, क्रोध न करे।

६. सुमणे अहियासेज्जा. न य कोलाहलं करे ।

—सूत्रकृतांग १।६।३१

साधक जो भी कष्ट आये, वे प्रसन्नमन से सहन करें। कोलाहल अर्थात चीख-चिल्लाहट न करें।

७. अज्जेवाहं न लब्भामो, अवि लाभे सुए सिया।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥

—उत्तराध्ययन २।३१

"आज नहीं मिला तो क्या है कल मिल जायगा"—जो यह विचार कर लेता है, वह कभी अलाभ के कारण पीड़ित नहीं होता।

८. सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए।

—आचारांग १।३।३

सत्य की साधना करनेवाला साधक सब ओर दुःखों से घिरा रह कर भी घबराता नहीं है, विचलित नहीं होता है।

९. अलद्धुयं नो परिदेवइज्जा,
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो।

—दशवैकालिक ९।३।४

जो लाभ न होने पर खिन्न नहीं होता है, और लाभ होने पर अपनी बड़ाई नहीं हांकता है, वही पूज्य है।

१०, लाभुत्ति न मज्जिज्जा।
अलाभुत्ति न सोइज्जा।

—आचारांग १।२।५

मिलने पर गर्व न करे ! न मिलने पर शोक न करे ! यही साधक का परम (तितिक्षा) धर्म है।

११. देहदुक्खं महाफलं।

—दशवैकालिक ८।२७

शारीरिक कष्टों को समभावपूर्वक सहने से महाफल की प्राप्ति होती है।

१२. थोवं लद्धुं न खिंसए।

—दशवैकालिक ८।२९

मन चाहा लाभ न होने पर झुझलाएं नहीं।



२४ मनोबल

१. नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा ।

—आचारांग २।३।१

संकट में मन को ऊँचा-नीचा अर्थात् डांवाडोल नही होने देना चाहिए ।

२. अदीणमणसो चरे ।

—उत्तराध्ययन २।३

संसार में अदीनभाव से दीनता रहित होकर रहना चाहिए ।

३. संकाभीओ न गच्छेज्जा ।

—उत्तराध्ययन २।२१

जीवन में शंकाओं से ग्रस्त—भीत होकर मत चलो ।

४. तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ ।

—बृहत्कल्पभाष्य १।३५७

वह कौन-सा कठिन कार्य है, जिसे धैर्यवान् व्यक्ति सम्पन्न नहीं कर सकता ?

५. स वीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति ।

—भगवती १।८

शक्तिशाली (वीर्यवान्) जीतता है और शक्तिहीन (निर्वीर्य) पराजित हो जाता है ।

६. देहबलं खलु विरियं, बलसरिसो चेव होति परिणामो।

—बृहत्कल्पभाष्य ३९४८

देह का बल ही वीर्य है और बल के अनुसार ही आत्मा में शुभा-शुभ भावों का तीव्र या मंद परिणमन होता है।

७. वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा।

—बृहत्कल्पभाष्य ३२५४

यह वसुन्धरा वीरभोग्या है।

८. परेषां दूषणाज्जातु न बिभेति कवीश्वरः।
किमलूकभयाद् धुन्वन् ध्वान्तं नोदेति भानुमान्।

—आदिपुराण १।७५

दूसरों के भय से कविजन (विद्वान्) कभी डरते नहीं है। क्या उल्लुओ के भय से सूर्य अंधकार का नाश करना छोड़ देता है?



२५ सेवा-धर्म

१. वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोयं कम्मं निबंधेइ ।

—उत्तराध्ययन २६।३

आचार्यादि की वैयावृत्त्य करने से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्रकर्म का उपार्जन करता है ।

२. जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा न गवेसइ,
न गवेसंतं वा साइज्जइ.. .....आवज्जइ चउम्मासियं
परिहारठाणं अणुग्घाइयं ।

—निशीथ १०।३७

यदि कोई समर्थ साधु किसी साधु को बीमार सुनकर एवं जानकर बेपरवाही से उसकी सार-संभाल न करे तथा न करने वाले की अनुमोदना करे तो उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।

३. वैयावृत्त्यं-भक्तादिभिर्धर्मोपग्रहकारिवस्तुभिरुपग्रहकरणे ।

—स्थानांग ५।१ टीका

धर्म में सहारा देनेवाली आहार आदि वस्तुओं द्वारा उपग्रह-सहायता करने के अर्थ में **वैयावृत्त्य** शब्द आता है ।

४. असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ।

—स्थानांग ८।

अनाश्रित एवं असहायजनो को सहयोग एवं आश्रय देने के लिए तत्पर रहना चाहिए ।

५. गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।

—स्थानांग ८

रोगी की सेवा करने के लिए सदा अग्लानभाव से तैयार रहना चाहिए।

६. समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भई।

—भगवतीसूत्र ७।१

जो दूसरों के सुख एवं कल्याण का प्रयत्न करता है वह स्वयं भी सुख एवं कल्याण को प्राप्त होता है।

७. जो करेइ सो पसंसिज्जइ।

—आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ १।३२

जो सेवा करता है, वह प्रशंसा पाता है।

८. कार्यकृद् गृह्यको जनः।

—त्रिषष्ठिशलाका० १।१।६०८

जो कार्य (सेवा) करता है, लोक उसे पूजते ही है।



सत्संग

१. सवणे नाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे ।
अण्णहए तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

—भगवती २।५

सत्सग से धर्म-श्रवण, धर्म-श्रवण से तत्त्वज्ञान, तत्त्व ज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट तत्वज्ञान), विज्ञान से प्रत्याख्यान—सांसारिक पदार्थों से विरक्ति, प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनाश्रव—नवीन कर्म का अभाव, अनाश्रव से तप, तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश, पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मतासर्व-था कर्मरहित स्थिति और निष्कर्मता से सिद्धि अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है ।

२. कुज्जा साहूहिं संथवं ।

—दशवैकालिक ८।५३

हमेशा साधुजनों के साथ ही संस्तव = सम्पर्क रखना चाहिए ।

३. धुनोति दवथुं स्वान्तात्तनोत्यानंदथुं परम् ।
धिनोति च मनोवृत्तिमहो साधु-समागमः ।

—आदिपुराण ९।१९०

साधु-पुरुषों का समागम मन से सताप को दूर करता है, आनन्द की वृद्धि करता है और चित्तवृत्ति को संतोष देता है ।

४. एगागिस्स हि चित्ताइं विचित्ताइं खणे खणे।
उपज्जंति वियंते य वसेवं सज्जणे जणे॥
- बृहत्कल्पभाष्य ५७१९

एकाकी रहनेवाले साधक के मन में प्रतिक्षण नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न एवं विलीन होते रहते है, अतः सज्जनों की संगति में रहना ही श्रेष्ठ है।

५. जह कोति अमयरुखो विसकंटगवल्लिवेढितो संतो।
ण चइज्जइ अल्लीतुं, एवं सो खिसमाणो उ॥
बृहत्कल्पभाष्य ६०९२

जिस प्रकार जहरीले कांटोंवाली लता से वेष्टित होने पर अमृत-वृक्ष का भी कोई आश्रय नही लेता, उसी प्रकार दूसरों को तिरस्कार करने और दुर्वचन कहनेवाले विद्वान् को भी कोई नही पूछता।

६. अलसं अणुबद्धवेरं, सच्छंदमती पयहीयव्वो।
—व्यवहारभाष्य १।६६

आलसी, वैर विरोध रखनेवाले, और स्वेच्छाचारी का साथ छोड़ देना चाहिए।

७. सुजणो वि होइ लहुओ, दुज्जण संमेलणाए दोसेण।
माला वि मोल्लगरुया, होदि लहू मडय संसिट्ठा॥
—भगवतीआराधना ३४५

दुर्जन की सगति करने से सज्जन का भी महत्व गिर जाता है, जैसे कि मूल्यवान् माला मुर्दे पर डाल देने से निकम्मी हो जाती है।



२७ सदाचार

१. जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥
—उत्तराध्ययन १।४

जिस प्रकार सड़े हुए कानोंवाली कुतिया जहाँ भी जाती है, जाती है, उसी प्रकार दु:शील, उद्दण्ड और मुखर—वाचाल मनुष्य निकाल दी भी सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है ।

२. कणकुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥
—उत्तराध्ययन १।५

जिस प्रकार चावलों का स्वादिष्ट भोजन छोड़कर सूकर विष्ठा खाता है । उसी प्रकार पशुवत् जीवन बितानेवाला अज्ञानी, शील=सदाचार को छोड़कर दु:शील=दुराचार को पसन्द करता है ।

३. चीराजिणं नगिणिणं जडी संघाडि मुंडिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति दुस्सीलं परियागयं ॥
—उत्तराध्ययन ५।२१

चीवर, मृगचर्म, नग्नता, जटाएँ, कंथा और सिरोमुण्डन—यह सभी उपक्रम आचारहीन साधक की (दुर्गति से) रक्षा नही कर सकते ।

४. भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ।

—उत्तराध्ययन ५।२२

भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो, जो सुव्रती सदाचारी है, वह दिव्यगति को प्राप्त होता है ।

५. गिहिवासे वि सुव्वए ।

—उत्तराध्ययन ५।२४

धर्मशिक्षा सम्पन्न गृहस्थ गृहवास में भी सुव्रती है ।

६. न संतसंति मरणन्ते, सीलवंता बहुस्सुया ।

—उत्तराध्ययन ५।२९

ज्ञानी और सदाचारी आत्माएं मरणकाल में त्रस्त अर्थात् भयाक्रान्त नहीं होते ।

७. भणंता अकरेन्ता य बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायावीरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं ।।

—उत्तराध्ययन ६।१०

जो केवल बोलते हैं करते कुछ नही, वे बन्ध-मोक्ष की बातें करनेवाले दार्शनिक केवल वाणी के बल पर ही अपने आपको आश्वस्त किए रहते हैं ।

८. न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।

—उत्तराध्ययन ६।११

विविध-भाषाओं का पांडित्य मनुष्य को दुर्गति से नही बचा सकता । फिर भला विद्याओं का अनुशासन—अध्ययन किसी को कैसे बचा सकेगा ?

९. न तं अरी कंठछित्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

—उत्तराध्ययन २०।४८

गर्दन काटनेवाला शत्रु भी उतनी हानि नहीं करता, जितनी हानि दुराचार में प्रवृत्त अपना ही स्वय का आत्मा कर सकता है।

१०. अंगाणं किं सारो ? आयारो।

—आचारांग निर्युक्ति १७

जिनवाणी (अंग-साहित्य) का सार क्या है ? 'आचार'।

११. सारो परूवणाए चरणं, तस्स वि य होइ निव्वाणं।

—आचारांग नि० १७

प्ररूपणा का सार है—आचरण !
आचरण का सार है—निर्वाण !

१२. चरण गुणविप्पहीणो, बुड्डइ सुबहुंपि जाणंतो।

—आव० नि० ६७

जो साधक चारित्र के गुण से हीन है, वह बहुत से शास्त्र पढ़ लेने पर भी ससार-समुद्र में डूब जाता है।

१३. सुबहुंपि सुयमहीयं, किं काही, चरणविप्पहीणस्स ?
अन्धस्स जह पलित्ता, दीव सयसहस्सकोडी वि॥

—आव० नि० ६८

शास्त्रों का बहुत-सा अध्ययन भी चारित्रहीन के लिए किस काम का ? क्या करोड़ो दीपक जला देने पर भी अन्धे को कोई प्रकाश मिल सकता है ?

१४. अप्पं पि सुयमहीयं पयासयं होइ चरणजुत्तस्स।
इक्को वि जह पईवो सचक्खुअस्सा पयासेइ॥

—आव० नि० ६६

शास्त्र का थोड़ा-सा अध्ययन भी सच्चरित्र साधक के लिए प्रकाश देनेवाला होता है। जिसकी आंखें खुली है, उसको एक दीपक भी काफी प्रकाश दे देता है।

१५. जहा खरो चंदणभारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
नाणस्स भागी न हु सोग्गईए ।।

—आव० नि० १००

चन्दन का भार उठानेवाला गधा सिर्फ भार ढोनेवाला है, उसे चन्दन की सुगन्ध का कोई पता नही चलता । इसीप्रकार चारित्र-हीन ज्ञानी सिर्फ ज्ञान का भार ढोता है । उसे सद्गति प्राप्त नही होती ।

१६. हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ ।।

आव० नि० १०१

आचारहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है, और ज्ञान हीन आचार । जैसे वन में अग्नि लगने पर पंगु उसे देखता हुआ और अन्धा दौडता हुआ भी आग से बच नही पाता, जलकर नष्ट हो जाता है ।

१७. सजोगसिद्धीइ फलं वयंति,
न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अधो य पंगू य वणे समिच्चा,
ते सपउत्ता नगरं पविट्ठा ।।

— आव० नि० १०२

सयोग-सिद्धि (ज्ञान क्रिया का सयोग) ही फलदायी (मोक्ष रूप फल देनेवाला) होता है । एक पहिए स कभी रथ नही चलता । जैसे अन्ध और पगु मिलकर वन के दावानल से पार होकर नगर मे सुरक्षित पहुंच गए, इसी प्रकार साधक भी ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति लाभ करता है ।

१८. न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती।

—आव० नि० ११५१

जान लेने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं हो जाती।

१९. जाणंतोऽवि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजइ नईए।
सो बुज्झइ सोएणं एवं नाणी चरणहीणो॥

—आव० नि० ११५४

तैरना जानते हुए भी यदि कोई जल-प्रवाह में कूदकर काय चेष्टा न करे, हाथ-पांव न हिलाए तो वह प्रवाह में डूब जाता है। धर्म को जानते हुए भी यदि कोई उस पर आचरण न करे तो वह संसार सागर को कैसे तैर सकेगा ?

२०. निच्छयमवलंबंता, निच्छयतो निच्छयं अयाणंता।
नासंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केइ॥

—ओघनि० ७६१

जो निश्चय-दृष्टि के आलम्बन का आग्रह तो रखते हैं, परन्तु वस्तुतः उसके सम्बन्ध में कुछ जानते-बूझते नहीं है। वे सदाचार की व्यवहार-साधना के प्रति उदासीन हो जाते है और इस प्रकार सदाचार को ही मूलतः नष्ट कर डालते है।

२१. सुचिरं पि अच्छमाणो
वेरुलियो कायमणियो मीसे।
न उय उवेइ कायभावं,
पाहन्नगुणेण नियएण॥

—ओघनि० ७७२

वैडूर्यरत्न काच की मणियों मे कितने ही लम्बे समय तक क्यों न मिला रहे, वह अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण रत्न ही रहता है, कभी कांच नही होता। (सदाचारी-उत्तमपुरुष का जीवन भी ऐसा ही होता है)।

२२. सीलेण विणा विसया, णाणं विणासन्ति।

—शीलपाहुड २

शील—सदाचार के बिना इंद्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

२३. णाणं चरित्तसुद्धं थोओ पि महाफलो होई।

शीलपाहुड ६

चारित्र से विशुद्ध हुआ ज्ञान यदि अल्प भी है, तब भी वह महान् फल देनेवाला है।

२४. सीलगुणवज्जिदाणं, णिरत्थयं माणुसं जम्म।

— शीलपाहुड १५

शीलगुण से रहित व्यक्ति का मनुष्य जन्म पाना निरर्थक ही है।

२५. जीव दया दम सच्चं अचोरियं बंभचेर संतोसे।
सम्मद्दंसण-णाणे तओ य सीलस्स परिवारो॥

—शीलपाहुड १९

जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन-ज्ञान और तप—यह सब शील का परिवार है। अर्थात् शील के अंग हैं।

२६. सीलं मोक्खस्स सोवाण।

— शीलपाहुड २०

शील-सदाचार मोक्ष का सोपान है।

२७. णाणे णाणुवदेसे, अवट्टमाणो उ अन्नाणी।

—निशीथभाष्य ४७९१

जो ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता, वह ज्ञानी भी वस्तुतः अज्ञानी है।

२८. चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहा ॥

—ओघनिर्युक्ति भाष्य ७

आचाररूप सद्‌गुणो की प्राप्ति के लिए धर्मकथा कही जाती है ।

२९. मा णं तुमं पदेसी !
पुव्वं रमणिज्जे भवित्ता, पच्छा अरमणिज्जेभवेज्जासि ।

—राजप्र० ४।८२

हे राजन्! तुम जीवन के पूर्वकाल मे रमणीय होकर उत्तर काल मे अरमणीय मत बन जाना ।

३०. सुभासियाए भासाए सुकडेण या कम्मुणा ।
पज्जण्णे कालवासी वा जसं तु अभिगच्छति !

—ऋषिभाषित ३३।४

जो वाणी से सदा सुन्दर बोलता है और कर्म से सदा सदाचरण करता है, वह व्यक्ति समय पर बरसनेवाले मेघ की तरह सदा प्रशंसनीय और जनप्रिय होता है ।

३१. णाणं किरियारहियं, किरियामेत्तं च दोवि एगंता ।

—सन्मतितर्क ३।६८

क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनो ही एकात है, (फलत: जैनदर्शन सम्मत नही है) ।

३२. सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे वि खमकरणं ।
सव्वेसिं गुणगणं, मदंकसायाण दिट्ठता ॥

—कार्तिकेय० ९१

सब जगह प्रियवचन बोलना, दुर्वचन बोलने पर भी उसे क्षमा करना, और सब के गुण ग्रहण करते रहना— यह मदंकषायी (शान्त स्वभावी) आत्मा के लक्षण है ।

३३. वाया ए अकहंता सुजणे, चरिदेहि कहियगा होंति ।

—भगवती आराधना ३६६

श्रेष्ठ पुरुष अपने गुणों को वाणी से नही, किन्तु सच्चरित्र से ही प्रकट करते है ।

३४, किच्चा परस्स णिदं, जो अप्पाण ठवेदुमिच्छेज्ज ।
सो इच्छदि आरोग्गं, परम्मि कडुओसहे पीए ॥

- भगवती आराधना ३७१

जो दूसरो की निन्दा करके अपने को गुणवान प्रस्थापित करना चाहता है वह व्यक्ति दूसरो को कड़वी औषधि पिलाकर स्वयं रोगरहित होने की इच्छा करता है ।

३५. दट्ठूण अण्णदोसं, सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ।

—भगवती आराधना ३७२

सत्पुरुष दूसरे के दोष देखकर स्वयं मे लज्जा का अनुभव करता है । (वह कभी उसे अपने मुँह से नही कह पाता ।)



२८ सद्व्यवहार

१. सव्वपाणा न हीलियव्वा न निंदियव्वा ।

—प्रश्नव्याकरण २।१

विश्व के किसी भी प्राणी की न अवहेलना करनी चाहिए और न निन्दा ।

२. जो परिभवइ परं जणं, संसारे परिवत्तई महं ।

—सूत्रकृतांग १।२।२।१

जो दूसरों का परिभव अर्थात् तिरस्कार करता है, वह संसारवन में दीर्घकाल तक भटकता रहता है ।

३. देवाकारोपेतः पाषाणोऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्यः ।

—नीतिवाक्यामृत ७।३०

देवकी आकृतिवाले पत्थर का भी अपमान नहीं करना चाहिए, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या ?

४. दवदवस्स न गच्छेज्जा ।

—दशवैकालिक ५।१।१४

मार्ग में जल्दी जल्दी-ताबड़-तोबड़ नहीं चलना चाहिए ।

५. हसंतो नाभिगच्छेज्जा ।

—दशवैकालिक ५।१।१४

मार्ग में हँसते हुए नहीं चलना चाहिए ।

६. संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ।

— दशवै० ५।१।१६

जहां भी कहीं क्लेश की सम्भावना हो, उस स्थान से दूर रहना चाहिए ।

७. उप्फुल्लं न विणिज्झाए ।

—दशवैकालिक ५।१।२३

आंखे फाड़ते हुए, घूरते हुए नहीं देखना चाहिए ।

८. निअट्टिज्ज अयंपिरो ।

—दशवैकालिक ५।१।२४

किसी के यहां अपना अभीष्ट काम न बन पाए तो बिना कुछ बोले (झगड़ा किए) शान्तभाव से लौट आना चाहिए ।

६. छंदं से पडिलेहए ।

— दशवैकालिक ५।१।३७

व्यक्ति के अन्र्तमन को परखना चाहिए ।

१०. उप्पण्णं नाइहीलिज्जा ।

—दशवैकालिक ५।१।६६

समय पर प्राप्त उचित वस्तु की अवहेलना न कीजिए ।

११. काले कालं समायरे ।

—दशवैकालिक ५।१।४

जिस काल (समय) में जो कार्य करने का हो, उस काल में वही कार्य करना चाहिए ।

१२. सप्पहासं विवज्जए ।

—दशवैकालिक ८।४२

अट्टहास नही करना चहिए ।

१३. अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अन्तरा ।

—दशवैकालिक ८।४७

बिना पूछे व्यर्थ किसी के बीच में नहीं बोलना चाहिए ।

१४. पिट्ठिमंसं न खाइज्जा ।

—दशवैकालिक ८।४७

किसी की चुगली खाना—पीठ का मांस नोचने के समान है, अतः किसी की पीठ पीछे चुगली नहीं खाना चाहिए ।

१५. खुड्डेहिं सह संसग्गि, हासं कीडं च वज्जए ।

—उत्तराध्ययन १।९

क्षुद्र लोगों के साथ सम्पर्क, हंसी, मजाक, क्रीड़ा आदि नही करना चाहिए ।

१६. न सिया तोत्तगवेसए ।

—उत्तराध्ययन १।४०

दूसरो का छल-छिद्र नही देखना चाहिए ।

१७. सरिसो होइ बालाणं ।

—उत्तराध्ययन २।२४

बुरे के साथ बुरा होना बचकानापन (बालकपन) है ।

१८. जोइंति पक्क न उ पक्कलेणं,
ठावेंति तं सूरहगस्स पासे ।
एक्कंमि खंभम्मि न मत्तहत्थी,
वज्झंति वग्घा न य पंजरे दो ।

—बृहत्कल्पभाष्य ४४१०

पक्व (झगड़ालू) को पक्व (झगड़ालू) के साथ नियुक्त नही करना चाहिए, किन्तु शान्त के साथ रखना चाहिए, जैसे कि एक खम्भे से दो मस्त हाथियों को नही बाधा जाता है और न एक पिजड़े मे दो सिंह रखे जाते है ।

१९. अलं विवाएण णेकत मुहेहिं ।

—निशीथभाष्य २६१३

कृतमुख (विद्वान) के साथ विवाद नहीं करना चाहिए ।

२०. अहऽसेयकरी अन्नेसिं इंखिणी ।

—सूत्रकृतांग १२।२।१

दूसरों की निन्दा हितकर नहीं है ।

२१. नो अत्ताणं आसाएज्जा, नो परं आसाएज्जा ।

—आचारांग १।६।५

न अपनी अवहेलना करो न दूसरों की ।

२२. न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे ।

—दशवैकालिक ८।३०

बुद्धिमान दूसरों का तिरस्कार न करे और अपनी बड़ाई न करे ।

२३. न यावि पन्ने परिहास कुज्जा ।

—सूत्रकृतांग १।१४।१९

बुद्धिमान किसी का उपहास नही करता

२४. णाति वेलं हसे मुणी ।

—सूत्रकृतांग १।९।२९

मर्यादा से अधिक नहीं हंसना चाहिए ।



२९ आहार-विवेक

१. तहा भोत्तव्वं जहा से जाया माता य भवति,
न य भवति विब्भमो, न भंसणा य धम्मस्स ।

—प्रश्नव्याकरण २।४

ऐसा हित=मित भोजन करना चाहिए, जो जीवनयात्रा एवं संयम यात्रा के लिए उपयोगी हो सके, और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्रंसना ।

२. हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ।।

—ओघनिर्युक्ति ५७८

जो मनुष्य हितभोजी, मितभोजी एवं अल्पभोजी हैं, उसको वैद्यों की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती । वे अपने-आप ही अपने चिकित्सक (वैद्य) होते हैं ।

३. कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्य-गुरुलाघवं स्ववलम् ।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं, भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य ।।

——प्रशमरति १३७

जो काल, क्षेत्र, मात्रा, आत्मा का हित, द्रव्य की गुरुता-लघुता एवं अपने वल का विचार कर भोजन करता है, उसे दवा की जरूरत नहीं रहती ।

४. बुभुक्षाकालो भोजनकालः ।

—नीतिवाक्यामृत २५।२९

भूख लगे, वही भोजन का समय है ।

५. यो मितं भुङ्क्ते, स बहुभुङ्क्ते ।

—नीतिवाक्यामृत २५।३८

जो परिमित खाता है, वह बहुत खाता है ।

६. तथा भुंजीतः ! यथा सायमन्येद्यु श्च न विपद्यते वन्हिः ।

—नीतिवाक्यामृत २५।४२

वैसे खाना चाहिए, जिससे संध्या या सबेरे जठराग्नि न बुझे ।

७. अतिमात्रभोजी देहमग्निं विधुरयति ।

—नीतिवाक्यामृत १६।१२

मात्रा से अधिक खानेवाला जठराग्नि को खराब करता है ।

८. मोक्खपसाहणहेतू, णाणादि तप्पसाहणो देहो ।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ।।

—निशीथभाष्य ४१५४

ज्ञानादि मोक्ष के साधन है, और ज्ञान आदि का साधन देह है, देह का साधन आहार है । अतः साधक को समयानुकूल आहार की आज्ञा दी गई है ।

९. अप्पाहारस्स न इंदियाइं विसएसु संपत्तंति ।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि ।।

—बृहत्कल्पभाष्य १३३१

जो अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियां विषय-भोग की ओर नहीं दौड़तीं । तप का प्रसंग आने पर भी वह क्लांत नहीं होता और न ही सरस भोजन में आसक्त होता है ।

१० णो पाण भोयणस्स अतिमत्तं आहारए सया भवई ।

—स्थानांग ९

ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए ।

११. नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे ।

—आचारांग २।३।१५।४

जो आवश्यकता से अधिक भोजन नही करता है, वही ब्रह्मचर्य का साधक सच्चा निर्ग्रन्थ है ।

१२. हृन्नाभिपद्मसंकोच-श्चण्डरोचिरपायतः ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ।

—योगशास्त्र ३।६०

आयुर्वेद का अभिमत है कि शरीर में दो कमल होते हैं—हृदय-कमल और नाभिकमल। सूर्यास्त हो जाने पर ये दोनों कमल संकुचित हो जाते हैं । अतः रात्रि-भोजन निषिद्ध है। इस निषेध का दूसरा कारण यह भी है कि रात्रि में पर्याप्त प्रकाश न होने से छोटे-छोटे जीव भी खाने में आ जाते हैं। (प्रकाश होने पर अन्य जीव भी भोजन में गिर जाते है) इसलिए रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए ।



श्रमणधर्म

१. समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे।

—प्रश्नव्याकरण २।५

जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वस्तुतः वही श्रमण है।

२. विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया।

—दशवैकालिक १।३

श्रमण-भिक्षु गृहस्थ से उसी प्रकार दान स्वरूप भिक्षा आदि ले, जिस प्रकार कि भ्रमर पुष्पों से रस लेता है।

३. वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।

—दशवैकालिक १।४

हम (श्रमण) जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की इस प्रकार पूर्ति करे कि किसी को कुछ कष्ट न हो।

४. महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।

—दशवैकालिक १।५

आत्मद्रष्टा साधक मधुकर के समान होते हैं, वे कहीं किसी एक व्यक्ति या वस्तु पर प्रतिबद्ध नहीं होते। जहां रस-गुण मिलता है, वही से ग्रहण कर लेते हैं।

५. अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं।

—दशवैकालिक ६।२२

अकिंचन मुनि और तो क्या, अपने देह पर भी ममत्व नहीं रखते।

६. भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणेत्ति वुच्चई।

—उत्तराध्ययन १७।३

जो श्रमण खा-पीकर खूब सोता है, समय पर धर्माराधना नहीं करता, वह 'पाप श्रमण' कहलाता है।

७. न हु कइतवे समणो।

—आचारांग नि० २२४

जो दम्भी है, वह श्रमण नहीं हो सकता।

८. जो भिंदेइ खुहं खलु, सो भिक्खू भावओ होइ।

—उत्तराध्ययन नि० ३७५

जो मन की भूख (तृष्णा) का भेदन करता है, वही भावरूप में भिक्षु है।

९. नाणी संजमसहिओ नायव्वो भावओ समणो।

—उत्तराध्ययन नि० ३८९

जो ज्ञानपूर्वक संयम की साधना में रत है, वही भाव (सच्चा) श्रमण है।

१०. इह लोगणिरावेक्खो,
अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
जुत्ताहार विहारो,
रहिदकसाओ हवे समणो॥

—प्रवचनसार ३।२६

जो कषायरहित है, इस लोक में निरपेक्ष है, परलोक में भी अप्रतिबद्ध (अनासक्त) है, और विवेकपूर्वक आहार विहार की चर्या रखता है, वही सच्चा श्रमण है।

११. आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।

—प्रवचनसार ३।३०

शास्त्रज्ञान से शून्य श्रमण न अपने को जान पाता है और न पर को ।

१२. जा चिट्ठा सा सव्वा सजमहेउं ति होंति समणाणं ।

—निशीथभाष्य २६४

श्रमणों की सभी चेष्टा-अर्थात् क्रियाएँ सयम के हेतु होती है ।

१३. समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो ।

—उत्तराध्ययनचूर्णि २

जिसका मन सर्वत्र सम रहता है, वही श्रमण है ।

१४. जह मम ण पियं दुक्ख, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं ।
न हणइ न हणावेइ अ सम मणइ तेण सो समणो ।।

— अनुयोगद्वार १२९

जिस प्रकार मुझको दु:ख प्रिय नही है, उसी प्रकार सभी जीवों को दु:ख प्रिय नही है, जो ऐसा जानकर न स्वय हिसा करता है, न किसी से हिसा करवाता है, वह समत्वयोगी ही सच्चा 'समण' है ।

१५. तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ ण होइ पावमणो ।
सयणे अ जणे अ समो, समो अ माणावमाणेसु ।

—अनुयोगद्वार १३२

जो मन से सु-मन (निर्मल मनवाला) है, सकल्प से कभी पापोन्मुख नहीं होता, स्वजन तथा परजन मे, मान एवं अपमान में सदा सम रहता है, वह 'श्रमण' होता है ।

१६. उवसमसारं खु सामण्णं ।

—बृहत्कल्पभाष्य १।३५

श्रमणत्व का सार है—उपशम !

१७. जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा,
जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा।

—बृहत्कल्प १।३५

जो कषाय को शान्त करता है, वही आराधक है। जो कषाय को शान्त नहीं करता उसकी आराधना नहीं होती।

१८. आगमबलिया समणा निग्गंथा।

—व्यवहारसूत्र १०

श्रमण निर्ग्रन्थों का बल 'आगम' (शास्त्र) ही है।



३१ श्रावकधर्म

१. पचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव ।
सिक्खावयाइ चउरो सावगधम्मो दुवालसहा ।

श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति ६

श्रावकधर्म पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यों बारह प्रकार है ।

२. धम्मरयणस्सजोगो अक्खुद्दो रूवव पगइसोम्मो ।
लोयप्पियो अक्कूरो, भीरु असठो सुदक्खिन्नो ।
लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोम्मदिट्ठी गुणरागी ।
सक्कह सपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू ।
वुड्ढाणुगो विणीओ कयन्नुओ परहिअत्थकारी य ।
तह चेव लद्धलक्खो, एगवीसगुणो हवइ सड्ढो ।

—प्रवचन सारोद्धार २३९ गाथा १३५६—१३५८

धर्म को धारण करने योग्य श्रावक मे २१ गुण होने चाहिए । यथा १ अक्षुद्र, २ रूपवान, ३ प्रकृतिसौम्य, ४ लोकप्रिय ५ अक्रूर ६ पापभीरु, ७ अशठ (छल नही करनेवाला), ८ सदाक्षिण्य (धर्मकार्य मे दूसरो की सहायता करनेवाला), ९ लज्जावान, १० दयालु ११ रागद्वेषरहित (मध्यस्थभाव मे रहनेवाला), १२ सौम्यदृष्टिवाला, १३ गुणरागी, १४ सत्यकथन में रुचि रखनेवाले - धार्मिकपरिवारयुक्त, १५ सुदीर्घदर्शी १६ विशेषज्ञ, १७ वृद्ध महापुरुषो के पीछे चलनेवाला,

१८ विनीत, १९ कृतज्ञ (किए उपकार को समझनेवाला, २० परहित करनेवाला, २१ लब्धलक्ष्य (जिसे लक्ष्य की प्राप्ति प्रायः हो गई हो।)

३. कयवयकम्मो तह सीलवं, गुणवं च उज्जुववहारी।
गुरु सुस्सूसो पवयण-कुसलो खलु सावगो भावे॥

—धर्मरत्नप्रकरण ३३

(१) जो व्रतों का अनुष्ठान करनेवाला है, शीलवान है,[1] (२) स्वाध्याय-तप-विनय आदि गुणयुक्त है, (३) सरल व्यवहार करनेवाला है, (४) सद्गुरु की सेवा करनेवाला है, (५) प्रवचन-कुशल है, वह 'भावश्रावक' है।

४. श्रद्धालुतां श्रातिपदार्थचिन्तनाद्,
धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।
किरत्यपुण्यानि सुसाधुसेवना
दतोपि तं श्रावकमाहुरुत्तमाः॥

—श्राद्धविधि, पृष्ठ ७२, श्लोक ३

१ शील का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) धार्मिकजनों युक्त स्थान में रहना।
(२) आवश्यक कार्य के बिना दूसरे के घर न जाना,
(३) भड़कीली पोशाक नहीं पहनना,
(४) विकार पैदा करनेवाले वचन न बोलना,
(५) द्यूत आदि न खेलना,
(६) मधुरनीति से कार्यसिद्धि करना।

इन छः शीलों से युक्त श्रावक शीलवान होता है।

श्रावक शब्द की निम्न व्युत्पत्ति की गई है—

श्रा—वह तत्त्वार्थचिन्तन द्वारा श्रद्धालुता को सुदृढ़ करता है।

व—निरन्तर सत्पात्रों में धनरूप बीज बोता है।

क—शुद्धसाधु की सेवा करके पापधूलि को दूर फेंकता रहता है।
उसे उत्तमपुरुषो ने श्रावक कहा है।

५. उपासन्ते सेवन्ते साधून्, इति उपासकाः श्रावकाः।

—उत्तराध्ययन २ टीका

साधुओ की उपासना-सेवा करते है अतः श्रावक उपासक कहलाते है।

६. श्रमणानुपास्ते इति श्रमणोपासकः।

—उपासकदशा १ टीका

श्रमणों-साधुओं की उपासना करने के कारण श्रावक श्रमणोपासक कहलाते है।

७. जो बहुमुल्लं वत्थुं, अप्पमुल्लेण णेव गिण्हेदि।
वीसरियं पि न गिण्हदि, लाभे थूएहि तूसेदि॥

—कार्तिकेय० ३३५

वही सद्गृहस्थ श्रावक कहलाने का अधिकारी है, जो किसी की बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य देकर नही ले, किसी की भूली हुई वस्तु को ग्रहण नही करे और थोडा लाभ प्राप्त करके ही सन्तुप्ट रहे।

८. धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।

—सूत्रकृतांग २।२।३९

सद्गृहस्थ धर्मानुकूल ही आजीविका करते हैं।

६. चत्तारि समणोवासगा—
अद्दागसमाणे, पडागसमाणे
खाणुसमाणे,खरकंटसमाणे ।

—स्थानांग ४।३

श्रमणोपासक की चार कोटिया है—

(१) दर्पण के समान—स्वच्छ-हृदय ।
(२) पताका के समान—अस्थिर-हृदय ।
(३) स्थाणु के समान —मिथ्याग्रही ।
(४) तीक्ष्णकटक के समान—कटुभाषी ।

१०. सामाइयंमि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।

—आवश्यक निर्युक्ति ८०२

सामायिक की साधना करता हुआ श्रावक भी श्रमण के तुल्य हो जाता है ।

११. न्यायसम्पन्नविभवः शिष्टाचार - प्रशंसकः ।
कुलशीलसमैः सार्द्धं, कृतोद्वाहोन्यगोत्रजैः ।।
पापभीरुः प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन् ।
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः ।।
अनतिव्यक्तगुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिके ।
अनेकनिर्गमद्वार - विवर्जितनिकेतनः ।।
कृतसङ्गः सदाचारै-र्मातापित्रोश्च पूजकः ।
त्यजन्नुपप्लुतं स्थान-मप्रवृत्तश्च गर्हिते ।।
व्ययमायोचित कुर्वन्, वेषं वित्तानुसारतः ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम् ।।
अजीर्णे भोजनत्यागी, काले भोक्ता च सात्म्यतः ।
अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयन् ।।

यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत् ।
सदाऽनभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च ।।
अदेश-कालयोश्चर्यां, त्यजन् जानन् बलाबलम् ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां, पूजकः पोष्यपोषकः ।।
दीर्घदर्शी विशेषज्ञः, कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः सौम्यः, परोपकृतिकर्मठः ।।
अन्तरङ्गारिषड्वर्ग - परिहार - परायणः ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृहिधर्माय कल्पते ।।

—योगशास्त्र १४७-५६

गृहस्थधर्म को पालन करने का पात्र अर्थात् श्रावक वह होता है, जिसमें निम्नलिखित ३५ विशेषताएं हों—

(१) न्याय-नीति से धन उपार्जन करनेवाला हो ।

(२) शिष्टपुरुषों के आचार की प्रशसा करनेवाला हो ।

(३) अपने कुल और शील मे समान, भिन्न गोत्रवालों के साथ विवाह-सम्बन्ध करनेवाला हो ।

(४) पापो से डरनेवाला हो ।

(५) प्रसिद्ध देशाचार का पालन करे ।

(६) किसी की और विशेपरूप से राजा आदि की निन्दा न करें ।

(७) ऐसे स्थान पर घर बनाए, जो न एकदम खुला हो और न एकदम गुप्त ही हो ।

(८) घर में बाहर निकलने के द्वार अनेक न हो ।

(९) सदाचारी पुरुषो की सगति करता हो ।

(१०) माता-पिता की सेवा-भक्ति करे ।

(११) रगड़-झगड़े और बखेड़ पैदा करनेवाली जगह से दूर रहे, अर्थात् चित्त मे क्षोभ उत्पन्न करनेवाले स्थान में न रहे ।

(१२) किसी भी निन्दनीय काम में प्रवृत्ति न करे।
(१३) आय के अनुसार ही व्यय करे।
(१४) अपनी आर्थिकस्थिति के अनुसार वस्त्र पहने।
(१५) बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होकर प्रतिदिन धर्म-श्रवण करे।
(१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करे।
(१७) नियत समय पर सन्तोष के साथ भोजन करे।
(१८) धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करे कि कोई किसी का बाधक न हो।
(१९) अतिथि, साधु और दीन-असहायजनों का यथायोग्य सत्कार करे।
(२०) कभी दुराग्रह के वशीभूत न हो।
(२१) गुणों का पक्षपाती हो—जहां कहीं गुण दिखाई दे, उन्हें ग्रहण करे और उनकी प्रशंसा करे।
(२२) देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करे।
(२३) अपनी शक्ति और असक्ति को समझे। अपने सामर्थ्य का विचार करके ही किसी काम में हाथ डाले, सामर्थ्य न होने पर हाथ न डाले।
(२४) सदाचारी पुरुषों की तथा अपने से अधिक ज्ञानवान् पुरुषों की विनय-भक्ति करे।
(२५) जिनके पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करे।
(२६) दीर्घदर्शी हो अर्थात् आगे-पीछे का विचार करके कार्य करे।
(२७) अपने हित-अहित को समझे, भलाई-बुराई को समझे।
(२८) लोकप्रिय हो अर्थात् अपने सदाचार एवं सेवा-कार्य के द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करे।
(२९) कृतज्ञ हो अर्थात् अपने प्रति किये हुए उपकार को नम्रता-पूर्वक स्वीकार करे।

(३०) लज्जाशील हो अर्थात् अनुचित कार्य करने में लज्जा का अनुभव करे।

(३१) दयावान् हो।

(३२) सौम्य हो—चेहरे पर शान्ति और प्रसन्नता झलकती हो।

(३३) परोपकार करने में उद्यत रहे। दूसरों की सेवा करने का अवसर आने पर पीछे न हटे।

(३४) काम-क्रोधादि आन्तरिक छह शत्रुओं को त्यागने में उद्यत हो।

(३५) इन्द्रियों को अपने वश में रखे।



३२ वाणी-विवेक

१. वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ।

—दशवैकालिक ७।५६

बुद्धिमान ऐसी भाषा बोले—जो हितकारी हो एवं अनुलोम–सभी को प्रिय हो ।

२. दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअंजियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिरअत्तवं ॥

—दशवैकालिक ८।४९

आत्मवान साधक दृष्ट (अनुभूत), परिमित, सन्देहरहित, परिपूर्ण (अधूरी कटी-छंटी बात नहीं) और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे । किन्तु यह ध्यान में रहे कि वह वाणी भी वाचलता से रहित तथा दूसरों को उद्विग्न करनेवाली न हो ।

३. नो तुच्छए नो य विकत्थइज्जा ।

—सूत्रकृतांग १।१४।२१

बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह वाणी से न किसी को तुच्छ बताए और न झूठी प्रशंसा करे ।

४. वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ।

— दशवैकालिक ९।३।७

वाणी से बोले हुए दुष्ट और कठोर वचन, जन्म, जन्मान्तर के वैर और भय के कारण बन जाते हैं ।

५. न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा ।

—दशवैकालिक १०।१०

विग्रह बढ़ानेवाली बात नहीं कहनी चाहिए ।

६. बहुयं मा य आलवे ।

—उत्तराध्ययन १।१०

बहुत नहीं बोलना चाहिए ।

७. नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए ।

—उत्तराध्ययन १।१४

बिना बुलाए बीच में कुछ नहीं बोलना चाहिए, बोलने पर भी असत्य जैसा कुछ न कहे ।

८. वयगुत्तयाए णं णिव्विकारत्तं जणयई ।

—उत्तराध्ययन २६।५१

वचन-गुप्ति से निर्विकार स्थिति प्राप्त होती है ।

९. गिरा हि संखारजुया वि संसती,
अपेसला होइ असाहुवादिणी ।

—बृहत्कल्पभाष्य ४११८

संस्कृत-प्राकृत आदि के रूप में सुसंस्कृत भाषा भी यदि असभ्यता पूर्वक बोली जाती है तो वह भी जुगुप्सित हो जाती है ।

१०. पुव्विं बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे ।
अचक्खुओ व नेयारं, बुद्धिमन्नेसए गिरा ।।

—व्यवहारभाष्य पीठिका ७६

पहले बुद्धि से परखकर फिर बोलना चाहिए । अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार पथ-प्रदर्शक की अपेक्षा रखता है उसीप्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है ।

११. कुसलवइ उदीरंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि ।

—बृहत्कल्पभाष्य ४४५१

कुशलवचन (निरवद्य-वचन) बोलनेवाला वचनसमिति का भी पालन करता है और वचनगुप्ति का भी।

१२. णेहरहितं तु फरुसं।

—निशीथभाष्य २६०८

स्नेह से रहित वचन 'परुष=कठोर' वचन कहलाता है।

१३. वयणं विण्णाणफल, जइ तं भणिएऽवि नत्थि किं तेण ?

—विशेषावश्यकभाष्य १५१३

वचन की फलश्रुति है—अर्थज्ञान ! जिस वचन के बोलने से अर्थ का ज्ञान नही हो तो उस वचन से क्या लाभ ?

१४. जं भासंभासंतस्स सच्चं मोसं वा चरित्तं विसुज्झइ,
सव्वा वि सा सच्चा भवति।
जं पुण भासमाणस्स चरित्तं न सुज्झति,
सा मोसा भवति।

—दशवैकालिक चूर्णि ७

जिस भाषा को बोलने पर—चाहे वह सत्य हो या असत्य—चारित्र की शुद्धि होती है तो वह सत्य ही है, और जिस भाषा के बोलने पर—चारित्र की शुद्धि नही होती, चाहे वह सत्य ही क्यों न हो, असत्य ही है। अर्थात् साधक के लिए शब्द का महत्व नही, भावना का महत्व है।

१५. हिदमिदवयणं भासदि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।

—कार्तिकेय० ३३४

साधक दूसरों को संतोष देनेवाला हितकारी और मित—संक्षिप्त वचन बोलता है।

१६. नो वयणं फरुसं वइज्जा।

—आचारांग २।१।६

कठोर—कटुवचन न बोले।

१७. अणुवोइभासी से निग्गंथे ।

—आचारांग २।३।१५।२

जो विचारपूर्वक बोलता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ है ।

१८ अणुणवीइभासी से निग्गथे समावइज्जा मोसं वयणाए ।

—आचारांग २।३।१५।२

जो विचारपूर्वक नही बोलता है उसका वचन कभी न कभी असत्य से दूषित हो सकता है ।

१९. अणुचिंतिय वियागरे ।

—सूत्रकृतांग १।९।२५

जो कुछ बोले—पहले विचार कर बोले ।

२०. जं छन्नं तं न वत्तव्वं ।

—सूत्रकृतांग १।९।२६

किसी की कोई गोपनीय जैसी बात हो, तो नही कहना चाहिए ।

२१. तुमं तुमंति अमणुन्नं, सव्वसो तं न वत्तए ।

—सूत्रकृतांग १।९।२७

'तू-तू' – जैसे अभद्र शब्द कभी नही बोलना चाहिए ।

२२. विभज्जवाय च वियागरेज्जा ।

—सूत्रकृतांग १।१४।२२

विचारशील पुरुष सदा विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद से युक्त वचन का प्रयोग करे ।

२३. निरुद्धग वावि न दीहईज्जा ।

—सूत्रकृतांग १।१४।२३

थोडे से मे कही जानेवाली बात को व्यर्थ ही लम्बी न करे ।

२४. नाइवेल वएज्जा ।

—सूत्रकृतांग १।१४।२५

साधक आवश्यकता से अधिक न बोले ।

२५. इमाइं छ अवयणाइ वदित्तए—
अलियवयणे, हीलियवयणे खिंसितवयणे,
फरुसवयणे, गारत्थियवयणे,
विउसवितं वा पुणो उदीरित्तए ।

—स्थानांग ६।३

छः तरह के वचन नही बोलना चाहिए—
असत्यवचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिड़कते हुए वचन, कठोर वचन, साधारण मनुष्यों की तरह अविचारपूर्ण वचन और शान्त हुए कलह को फिर से भड़काने वाले वचन ।

२६. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू ।

—स्थानांग ६।३

वाचालता सत्य वचन का विघात करती है ।

२७. जमट्ठं तु न जाणेज्जा, एवमेयंति नो वए ।

—दशवैकालिक ७।८

जिस बात को स्वयं न जानता हो, उसके सम्बन्ध में 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार निश्चित भाषा न बोले ।

२८. जत्थ संका भवे तं तु, एवमेयंति नो वए ।

—दशवैकालिक ७।६

जिस विषय में अपने को कुछ शंका जैसा लगता हो, उसके सबंन्ध में 'यह ऐसा ही है'—इस प्रकार निश्चित भाषा न बोले ।

२६. न लवे असाहुं साहु त्ति, साहुं साहु त्ति आलवे ।

—दशवैकालिक ७।४८

किसी प्रकार के दबाव या खुशामद से असाधु (अयोग्य) को साधु (योग्य) नही कहना चाहिए । साधु को ही साधु कहना चाहिए ।

३०. न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ।

—दशवैकालिक ७।५४

हंसते हुए नही बोलना चाहिए ।

३१. मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाणमज्झे लहई पसंसणं।

—दशवैकालिक ७।५५

जो विचारपूर्वक सुन्दर और परिमित शब्द बोलता है, वह सज्जनों में प्रशंसा पाता है।

३२. हिअ-मिअ-अफरुसवाई, अणुवीइभासि वाइओ विणओ।

—दशवैकालिक नि० ३२२

हित-मित, मृदु और विचारपूर्वक बोलना वाणी का विनय है।



३३ सरलता

१. अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे
धम्मस्स आराहए भवइ।

—उत्तराध्ययन २९।४८

दम्भरहित, अविसवादी आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक होता है।

२. करणसच्चे वट्टमाणे जीवे,
जहावाई तहाकारी यावि भवइ।

—उत्तराध्ययन २९।५१

करणसत्य—व्यवहार में स्पष्ट तथा सच्चा रहनेवाला आत्मा "जैसी कथनी वैसी करनी" का आदर्श प्राप्त करता है।

३. भद्दएणेव होअव्व पावइ भद्दाणि भद्दओ।
सविसो हम्मए सप्पो भेरुंडो तत्थ मुच्चई॥

—उत्तराध्ययन नि० ३२६

मनुष्य को भद्र सरल होना चाहिए, भद्र को ही कल्याण की प्राप्ति होती है। विषधर सांप ही मारा जाता है, निर्विष को कोई नहीं मारता।

४. एगमवि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेजा अत्थि तस्स आराहणा।

—स्थानांग ८

जो प्रमाद वश हुए कपटाचरण के प्रति पश्चात्ताप (आलोचना) करके सरल हृदय हो जाता है, वह धर्म का आराधक है।

५. आहच्च चंडालियं कट्टु न निण्हविज्ज कयाइवि।

—उत्तराध्ययन १।११

यदि साधक कभी कोई चाण्डालिक—दुष्कर्म करले, तो फिर उसे छिपाने की चेष्टा न करे।

६. कड कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य।

—उत्तराध्ययन १।११

बिना किसी छिपाव या दुराव के किए हुए कर्म को किया हुआ कहिए तथा नहीं किए हुए कर्म को न किया हुआ कहिए।

७. सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

—उत्तराध्ययन ३।१२

ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है, और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है।



३४ उद्बोधन

१. वओ अच्चेति जोव्वणं च।

—आचारांग १।२।१

आयु और यौवन प्रतिक्षण बीता जा रहा है।

२. अणभिक्कंतं च वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए।

—आचारांग १।२।१

हे आत्मविद् साधक ! जो बीत गया सो बीत गया। शेष रहे जीवन को ही लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर को परख ! समय का मूल्य समझ !

३. बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया।

—सूत्रकृतांग १।१।१।१

सर्वप्रथम बंधन को समझो, और समझ कर फिर उसे तोड़ो !

४. संबुज्झह, किं न बुज्झह ?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥

—सूत्रकृतांग १।२।१।१

अभी इसी जीवन में समझो, क्यों नहीं समझ रहे हो ? मरने के बाद परलोक में सम्बोधि का मिलना कठिन है।

५. सेणे जहा वट्टयं हरे, आउक्खयम्मि तुट्टई ।

—सूत्रकृतांग १।२।१।२

एक ही झपाटे में बाज जैसे बटेर को मार डालता है, वैसे ही आयु क्षीण होने पर मृत्यु भी जीवन को हर लेता है ।

६. नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।

—सूत्रकृतांग १।२।१।३

मरने के बाद सद्गति सुलभ नहीं है । (अतः जो कुछ सत्कर्म करना है, यहीं करो) ।

७. अत्तहियं खु दुहेण लब्भई ।

—सूत्रकृतांग १।२।२।३०

आत्महित का अवसर मुश्किल से मिलता है ।

८. मा पच्छ असाधुता भवे,
अच्चेही अणुसास अप्पगं ।

—सूत्रकृतांग १।२।३।७

भविष्य में तुम्हें कष्ट भोगना न पड़े, इसलिए अभी से अपने को विषय-वासना से दूर रखकर धर्म से अनुशासित करो ।

९. न य संखयमाहु जीवियं ।

—सूत्रकृतांग १।२।३।१०

जीवन-सूत्र टूट जाने के बाद फिर नहीं जुड़ पाता है ।

१०. बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ।

—दशवैकालिकचूलिका १।१४

सद्बोध प्राप्त करने का अवसर बार-बार मिलना सुलभ नहीं है ।

११. चइज्ज देहं, न हु धम्मसासणं ।

—दशवैकालिकचूलिका १।१७

देह को (आवश्यक होने पर) भले छोड़ दो, किन्तु अपने धर्म शासन को मत छोड़ो ।

१२. अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो ।

—दशवैकालिकचूलिका २।३

अनुस्रोत—अर्थात् विषयासक्त रहना, संसार है। प्रतिस्रोत—अर्थात् विषयों से विरक्त रहना, संसार-सागर से पार होना है।

१३. असंखयं जीविय मा पमायए !

—उत्तराध्ययन ४।१

जीवन का धागा टूट जाने पर पुनः जुड़ नहीं सकता, वह असस्कृत है इसलिए प्रमाद मत करो।

१४. दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीविय, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन १०।१

जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड़ जाते हैं, एवं भूमि पर झड़ पड़ते हैं। उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जाता है। अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।

१५. परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन १०।२६

तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है। अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।

१६. तिण्णोहु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन १०।२४

तू महासमुद्र को तैर चुका है, अब किनारे आकर क्यों बैठ गया ? उस पार पहुंचने के लिए शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद करना उचित नही है।

१७. मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।

— उत्तराध्ययन १४।१३

जग मे घिरा हुआ यह ममार मृत्यु मे पीडित हो रहा है।

१८. जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥

— उत्तराध्ययन १४।२५

जो रात्रिया बीत जाती है, वे पुन. लोटकर नही आती। किन्तु जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रात्रिया सफल हो जाती हैं।

१९. जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, मो हु कंखे सुए सिया॥

—उत्तराध्ययन १४।२७

जिमकी मृत्यु के माथ मित्रता हो, जो उससे भागकर बच सकता हो, अथवा जो यह जानता हो कि मै कभी मरूँगा नही, वही कल पर भरोसा कर सकता है (अन्यथा कल का क्या विश्वाम ?)

२०. अप्पणा अनाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि ?

—उत्तराध्ययान २०।१२

तू स्वय अनाथ है, तो फिर दूसरे का नाथ कैसे हो सकता है ?

२१. कालेण काल विहरेज्ज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो य।

—उत्तराध्ययन २०।१४

अपनी शक्ति को ठीक तरह पहचान कर यथावसर यथोचित कर्तव्य का पालन करते हुये राष्ट्र (विश्व) में विचरण करिए।

२२. सीहो व सद्देण न संतसेज्जा।

—उत्तराध्ययन २१।१४

सिंह के समान निर्भीक रहिए, केवल शब्दों (लोक-चर्चाओं) से न डरिए।

२३. जं कल्लं कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं।
मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि॥

बृहत्कल्पभाष्य ४६७४

जो कर्तव्य कल करना है, वह आज ही कर लेना अच्छा है। मृत्यु अत्यन्त निर्दय है, यह कब आ कर दबोच ले, मालुम नहीं! क्योंकि वह आता हुआ दिखाई नहीं पड़ता।

२४. तूरह धम्मं काउं, मा हु पमायं खणं वि कुव्वित्था।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्ह पडिच्छाहि॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४६७५

धर्माचरण करने के लिए शीघ्रता करो, एक क्षण भी प्रमाद मत करो। जीवन का एक-एक क्षण विघ्नों से भरा है, इसमे संध्या की भी प्रतीक्षा नही करनी चाहिए।

२५. जागरह! णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति न सो सुहितो, जो जग्गति सो सया सुहितो॥

—निशीथभाष्य ५६०३

मनुष्यो! सदा जागते रहो, जागनेवाले की बुद्धि सदा वर्धमान रहती है। जो सोता, वह सुखी नहीं होता, जाग्रत रहने वाला ही सदा सुखी रहता है।

२६. सुवति सुवंतस्स सुयं, संकियं खलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुयं, थिर-परिचितमप्पमत्तस्स॥

—निशीथभाष्य ५३०४

सोते हुए का श्रुत = ज्ञान सुप्त रहता है, प्रमत्त रहनेवाले का ज्ञान शंकित एवं स्खलित हो जाता है। जो अप्रमत्त भाव से जाग्रत रहता है, उसका ज्ञान सदा स्थिर एव परिचित रहता है, अर्थात् अप्रमत्त की प्रज्ञा सदा जाग्रत रहती है।

२७. सुवइ य अजगरभूतो, सुय पि से णासती अमयभूयं।
होहिति गोणब्भूयो, णट्ठंमि सुए अमयभूये॥

- नशीथभाष्य ५३०५

जो अजगर के समान सोया रहता है, उसका अमृतस्वरूप श्रुत (ज्ञान) नष्ट हो जाता है, और अमृतस्वरूप श्रुत के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति एक तरह से निरा बैल ही हो जाता है।

२८. जागरिया धम्मीणं आहम्मीणं च सुत्तया सेया।

—निशीथभाष्य ५३०६

धार्मिक व्यक्तियो का जागते रहना अच्छा है आर अधार्मिक जनो का सोते रहना।

२९. णालस्सेण समं सोक्ख, ण विज्जा सह णिद्दया।
ण वेरग्गं ममत्तेणं णारंभेण दयालुआ।

—निशीथभाष्य ५३०७

आलस्य के साथ सुख का, निद्रा के साथ विद्या का, ममत्व के साथ वैराग्य का, और आरम्भ—हिंसा के साथ दयालुता का कोई मेल नही है।

३० इणमेव खणं वियाणिया।

—सूत्रकृतांग १।२।३।१९

जो क्षण वर्तमान मे उपस्थित है, वही महत्वपूर्ण है, अत. उसे सफल बनाना चाहिए।



३५ विविध शिक्षाएं

१. न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई।

—उत्तराध्ययन ११।१२

सुशिक्षित व्यक्ति न किसी पर दोषारोपण करता है, और न कभी परिचितों पर कुपित ही होता है। और तो क्या, मित्र के साथ मत-भेद होने पर भी परोक्ष में उसकी भलाई की ही बात करता है।

२. अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए।

—उत्तराध्ययन १।८

अर्थयुक्त— सारभूत बातें ही ग्रहण कीजिए, निरर्थक बातें छोड़ दीजिए।

३. पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देह समुद्धरे।

—उत्तराध्ययन ६।१४

पहले के किए हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए इस देह की सार-सम्भाल रखनी चाहिए।

४. विहुणाहि रयं पुरे कडं।

—उत्तराध्ययन १०।३

पूर्व संचित कर्म रूपी रज को साफ कर!

५. किरिअं च रोयए धीरो।

—उत्तराध्ययन १८।३३

धीर पुरुष सदा क्रिया (कर्तव्य) में ही रुचि रखते हैं।

६. न सव्व सव्वत्थभिरोयएज्जा ।

—उत्तराध्ययन २१।१५

हर कहीं, हर किसी वस्तु में मन को मत लगा बैठिए ।

७. सीहे जहा खुड्डमिगा चरंता,
दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं,
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ।।

—सूत्रकृतांग १।१०।२०

जिस प्रकार मृगशावक (हरिण) सिंह से डरकर दूर-दूर रहते हैं, उसीप्रकार बुद्धिमान धर्म को जानकर पाप से दूर-दूर रहें ।

८. न कया वि मणेण पावएणं पावगं किंचि वि झायव्वं ।
वईए पावियाए पावगं न किंचिवि भासियव्वं ।।

—प्रश्नव्याकरण २।१

मन से कभी भी बुरा नहीं सोचना चाहिए ।
वचन से कभी भी बुरा नही बोलना चाहिए ।

९. जं सेयं तं समायरे ।

—दशवैकालिक ४।११

जो श्रेय (हितकर) हो, उसी का आचरण करना चाहिए ।

१०. कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ।

—दशवैकालिक ६।५९

कुशील (अनाचार) बढानेवाले प्रसंगों से साधक को हमेशा दूर रहना चाहिए ।

११. बलं थाम च पेहाए सद्धामारुग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाण निजुंजए।।

— दशवैकालिक ८।३५

अपना मनोबल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा, स्वास्थ्य, क्षेत्र और काल को ठीक तरह से परख कर ही अपने को किसी भी सत्कार्य के सम्पादन में नियोजित करना चाहिए।

१२. जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायन्ति, ताव धम्म समायरे॥

—**दशवैकालिक ८।३६**

जब तक बुढ़ापा आता नही, जब तक व्याधियों का जोर बढ़ता नही, जब तक इन्द्रियाँ (कर्मशक्ति) क्षीण नहीं होती हैं, तभी तक बुद्धिमान को जो भी धर्माचरण करना हो, कर लेना चाहिए।

१३. कुलं विणासेइ सयं पयाता,
नदीव कूल कुलडा उ नारी।

—**बृहत्कल्पभाष्य ३२५१**

स्वच्छन्द आचरण करनेवाली नारी अपने दोनों कुलों [पितृकुल व श्वसुरकुल] को वैसे ही नष्ट कर देती है जैसे कि स्वच्छन्द बहती हुई नदी अपने दोनों कूलों [तटों] को।

१४. भणंति सज्झमसज्झं, कज्जं सज्झं तु साहए मइमं।
अविसज्झं साहंतो, किलिस्सति न त च साहेई॥

—**निशीथभाष्य ४१५७**

कार्य के दो रूप हैं—साध्य और असाध्य, बुद्धिमान साध्य को साधने मे ही प्रयत्न करे। चूंकि असाध्य को साधने में व्यर्थ का क्लेश ही होता है और कार्य भी सिद्ध नही हो पाता।

१५. आवत्तीए जहा अप्पं रक्खति।
तहा अण्णोवि आवत्तीए रक्खियव्वो॥

—**निशीथचूर्णि ५९४२**

आपत्तिकाल मे जैसे अपनी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरों की भी रक्षा करनी चाहिए।

१ # आत्म-दर्शन

१. जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे,
जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी।

—आचारांग १।२।६

जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नही रखता है, वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नही है और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नही है, वह 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि भी नही रखता है।

२. वदणियमाणि धरता, सीलाणि तहा तव च कुव्वंता।
परमट्टबाहिरा जे, णिव्वाण ते ण विंदंति॥

—समयसार १५३

भले ही व्रत नियम को धारण कर तप और शील का आचरण करे, किन्तु जो परमार्थरूप आत्मबोध से शून्य है, वह कभी निर्वाण प्राप्त नही कर सकता।

३. ण याणति अप्पणो वि, किन्नु अण्णेसि।

—आचारांगचूर्णि १।३।३

जो अपने को नही जानता, वह दूसरे को क्या जानेगा ?

४. सुत्ता अमुणो, मुणिणो सया जागरति।

—आचारांग १।३।१

आत्मदर्शन से शून्य अज्ञानी सदा सोये रहते है और आत्मद्रष्टा ज्ञानी सदा जागृत रहते है।

५. व्यवहारे सुषुप्तो यः, स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्, स सुप्तश्चात्मगोचरे ।।

—समाधिशतक ७८

जो व्यवहार में सोया हुआ है, वह आत्मा के विषय में जागृत है और जो लोक-व्यवहार में जागृत है, वह आत्मा के विषय में सोया हुआ है।

६. अप्पा अप्पउ जइ मुणइ, तउ णिव्वाणं लहेइ ।
पर अप्पा जउ मणहि तहु संसार भमेइ ।

—योगसार १२

यदि तू अपने से अपने (आत्मा) को पहचान लेता है तो तू निर्वाण प्राप्त कर लेगा, यदि पर-पदार्थों को अपना (आत्म-स्वरूप) समझ लिया तो संसार में भ्रमण करता रहेगा।

७. जो परमप्पा सो जिउहं जो हउं सो परमप्पु ।

—योगसार २२

जो परमात्मा है, वही मैं (आत्मा) हूं, जो आत्मा है, वही परमात्मा (बन सकता) है।

८. तित्थहिं देवलि देवणवि इम सुई केवलि वुत्तु ।
देहा देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिभंतु ।

—योगसार ४२

तीर्थ एवं देवालय में भगवान नहीं है—यह श्रुतकेवली का वचन है। इस देह रूपी देवालय में ही भगवान है, यह निर्भ्रान्त रूप से जान लेना चाहिए।



खण्ड २

अध्यात्म-दर्शन

विषय : २५ : शिक्षाएँ : ४१७

२ # आत्म-स्वरूप

अत्थि मे आया उववाइए....
से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी ।
—आचारांग १।१।१

यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है... आत्मा के पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाला ही वस्तुत आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एव क्रियावादी है ।

२. जे लोगं अब्भाइक्खति, से अत्ताणं अब्भाइक्खति ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खति, से लोग अब्भाइक्खति ।।
—आचारांग १।१।३

जो लोक (अन्य जीवसमूह) का अपलाप करता है, वह स्वय अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है । जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक (अन्य जीवसमूह) का भी अपलाप करता है ।

३. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि ?
—आचारांग १।३।३

मानव ! तू स्वय ही अपना मित्र है । तू बाहर मे क्यो किसी मित्र (सहायक) की खोज कर रहा है ?

४. बन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव ।
—आचारांग १।५।२

वस्तुत. बन्धन और मोक्ष अन्दर मे ही है ।

५. जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जे ण वियाणइ से आया। तं पडुच्च पडिसंखाए।

—आचारांग १।५।५

जो आत्मा है, वह विज्ञाता है।
जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।

जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है।
जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

६. सव्वे सरा नियट्टंति,
तक्का जत्थ न विज्जइ।
मई तत्थ न गाहिया।

—आचारांग १।५।६

आत्मा के वर्णन में सब के सब शब्द निवृत्त हो जाते है—समाप्त हो जाते है।

वहां तर्क की गति भी नही है।
और न बुद्धि ही उसे ठीक तरह ग्रहण कर पाती है।

७. अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं।

—सूत्रकृतांग २।१।९

आत्मा और है, शरीर और है।

८. अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि।

—सूत्रकृतांग २।१।१३

शब्द, रूप आदि काम-भोग (जडपदार्थ) और हैं, मैं (आत्मा) और हूं।

९. अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव संवरइ।

—भगवती १।३

आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीरणा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा—आलोचना करता है, और अपने द्वारा ही कर्मों का संवर-आश्रव का निरोध करता है।

१०. हत्थिस्स य कुंथुस्स य ममे चेव जीवे।

—भगवती ७।८

आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुंथुआ-दोनों में आत्मा एक समान है।

११. नत्थि जीवस्स नासो त्ति।

—उत्तराध्ययन २।२७

आत्मा का कभी नाश नहीं होता।

१२. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चं।

—उत्तराध्ययन १४।१९

आत्मा आदि अमूर्ततत्व इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। और जो अमूर्त होते हैं वे अविनाशि-नित्य भी होते हैं।

१३. अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं॥

—उत्तराध्ययन २०।३६

मेरी (पाप में प्रवृत्त) आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष के समान (कष्टदायी) है। और मेरी आत्मा ही (सत्कर्म में प्रवृत्त) कामधेनु और नन्दनवन के समान सुखदायी भी है।

१४. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

—उत्तराध्ययन २०।३७

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है, और दुराचार में प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है।

१५. कह सो घिप्पइ अप्पा ? पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।

—समयसार २९६

यह आत्मा किस प्रकार जाना जा सकता है ?
आत्मप्रज्ञा अर्थात् भेद—विज्ञान रूप बुद्धि से ही जाना जा सकता है।

१६. आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च।

—समयसार २७७

मेरा अपना आत्मा ही ज्ञान (ज्ञानरूप) है, दर्शन है और चारित्र है।

१७. उवओग एव अहमिक्को।

—समयसार ३७

मैं (आत्मा) एकमात्र उपयोगमय=ज्ञानमय हूं।

१८. अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदा ऽरूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तंपि ।

—समयसार ३८

आत्मद्रष्टा विचार करता है कि—"मै तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप सदाकाल अमूर्त एवं शुद्ध शाश्वत तत्व हूं, परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नही है।"

१९. णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करोदि।
वेदयदि पुणो तं चेव, जाण अत्ता दु अत्ताणं॥

—समयसार ८३

निश्चयदृष्टि से आत्मा अपने को ही करता है, और अपने को ही भोगता है।

२०. जीवो परिणमदि जदा,
सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो,
हवदि हि परिणामसब्भावो ॥

—प्रवचनसार १।९

आत्मा परिणमन स्वभाववाला है, इसलिए जब शुभ या अशुभ भाव मे परिणत होता है, तब वह शुभ या अशुभ हो जाता है। और जब शुद्ध भाव मे परिणत होता है, तब वह शुद्ध होता है।

२१. जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।

—नियमसार ४७

जैसी शुद्ध आत्मा सिद्धो (मुक्त आत्माओ) की है, मूल स्वरूप से वैसी ही शुद्ध आत्मा ससारस्थ प्राणियो की है ।

२२. केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतए णाणी ।

—नियमसार ९६

"मैं केवल शक्ति स्वरूप हूं"—ज्ञानी ऐसा चिन्तन करे ।

२३. एगो मे सासदो अप्पा, णाण दंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ।

—नियमसार ९९

ज्ञान-दर्शन स्वरूप मेरा आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है, इससे भिन्न जितने भी (राग-द्वेष, कर्म, शरीर आदि) भाव है, वे सब सयोग-जन्य बाह्यभाव है, अत. वे मेरे नही हैं ।

२४. जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ।

—नियमसार १०२

जो अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसे परम समाधि की प्राप्ति होती है ।

२५. अन्तर-बाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अन्तरंगप्पा॥
—नियमसार १५०

जो अन्दर एव बाहिर के जल्प (वचनविकल्प) में रहता है, वह बहिरात्मा है। और जो किसी भी जल्प में नही रहता, वह अन्तरात्मा कहलाता है।

२६. अप्पाणं विणु णाणं, णाण विणु अप्पगो न संदेहो।
—नियमसार १७१

यह निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा के बिना ज्ञान नही, और ज्ञान के विना आत्मा नही।

२७. अप्पो वि य परमप्पो, कम्मविम्मुक्को य होइ फुडं।
—भावपाहुड १५१

आत्मा जब कर्म-मल से मुक्त हो जाता है, तो वह परमात्मा बन जाता है।

२८. तिपयारो सो अप्पा पर-मन्तरबाहिरो दु हेऊणं।
—मोक्षपाहुड ४

आत्मा के तीन प्रकार है—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। (इनमें बहिरात्मा से अन्तरात्मा, और अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ना चाहिए।)

२९. चित्तं तिकालविसयं।
—दशवै० नि० भाष्य० १९

आत्मा की चेतनाशक्ति त्रिकालज्ञ है। समस्त भावो को जानने की क्षमता आत्मा में है।

३०. णिच्चो अविणासि सासओ जावो।
—दशवै० नि० भाष्य ४२

आत्मा नित्य है, अविनाशी है, एवं शाश्वत है।

३१. इंदो जीवो सव्वोवलद्धि भोगपरमेसरत्तणओ।

—विशेषावश्यक० २९९३

सब उपलब्धि एवं भोग के उत्कृष्ट ऐश्वर्य की प्राप्ति होने के कारण प्रत्येक जीव इन्द्र है।

३२. जो अहंकारो भणितं अप्पलक्खणं।

— आचारांगचूर्णि १।१।१

यह जो अन्दर में 'अह' की—'मैं' की—चेतना है यह आत्मा का लक्षण है।

३३. यत्रात्मा तत्रोपयोगः, यत्रोपयोगस्तत्रात्मा।

—निशीथचूर्णि ३३३२

जहां आत्मा है, वहाँ उपयोग (चेतना) है, जहाँ उपयोग है वहाँ आत्मा है।

३४. अहं अव्वए वि, अहं अवट्ठिए वि।

—ज्ञाताधर्मकथा १।५

मैं (आत्मा) अव्यय=अविनाशी हूं, अवस्थित=एकरस हूं।

३५. संकप्पमओ जीओ, सुखदुक्खमयं हवेइ संकप्पो।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा १८४

जीव सकल्पमय है, और सकल्प सुखदुःखात्मक है।



३ मोक्षमार्ग

१. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गे त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥
—उत्तराध्ययन २८।२

वस्तु स्वरूप को यथार्थ से जाननेवाले जिन भगवान ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

२. आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं।
—सूत्रकृतांग १।१२।११

ज्ञान और कर्म (विद्या एवं चरण) से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

३. नाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं।
—विशेषावश्यकभाष्य ५२१

ज्ञान के फल (सदाचार) का अभाव होने से मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान है।

४. नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई ॥
—उत्तराध्ययन २८।३५

ज्ञान से भावों (पदार्थों) का सम्यक् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है। चारित्र से कर्मों का निरोध होता है और तप से आत्मा निर्मल होती है।

५. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥

—उत्तराध्ययन ३२।२

ज्ञान के समग्र प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन से, राग एवं द्वेष के क्षय से, आत्मा एकान्त सुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

६. णाणं पयासगं, मोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति १०३

ज्ञान प्रकाश करनेवाला है, तप विशुद्धि एवं संयम पापों का निरोध करता है। तीनों के समयोग से ही मोक्ष होता है—यही जिन-शासन का कथन है।

७. मोक्षोपायो योगो ज्ञान-श्रद्धान-चरणात्मकः।

—अभिधानचिन्तामणि १।७७

योग, ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय है एवं मोक्ष का उपाय है।

८. सव्वारंभ-परिग्गह णिक्खेवो सव्वभूतसमया य।
एक्कग्गमणसमाहाणया य, अह एत्तिओ मोक्खो ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४५८५

सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग, सब प्राणियों के प्रति समता और चित्त की एकाग्रतारूप समाधि—बस इतना मात्र मोक्ष है।

९. नाण-किरियाहिं मोक्खो।

—विशेषावश्यकभाष्य ३

ज्ञान एवं क्रिया (आचार) से ही मुक्ति होती है।

१०. धम्मोऽवि जओ सव्वो, न साहणं किंतु जो जोग्गो।

—विशेषा० भाष्य ३३१

सभी धर्म मुक्ति के साधन नहीं होते, किन्तु जो योग्य है, वही साधन होता है।

११ विवेगो मोक्खो।

—आचारांगचूर्णि १।७।१

वस्तुतः विवेक ही मोक्ष है।

१२. नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव॥

—हरिभद्रसूरि

मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में है, न तत्त्ववाद में तथा न ही किसी एक पक्ष की सेवा करने में है। वास्तव में क्रोध आदि कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है।

१३. परमार्थतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षकारण न लिंगादीनि।

—उत्तराध्ययनचूर्णि २३

परमार्थ दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, वेप आदि नहीं।

१४. सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

— तत्त्वार्थसूत्र १।१

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र—यही मोक्ष का मार्ग है।

१५. परिणिव्वुत्तो णाम रागद्दोसविमुक्के।

—उत्तराध्ययनचूर्णि १०

राग और द्वेष से मुक्त होना ही परिनिर्वाण है।

१६. निव्विकप्पसुहं सुहं ।

—बृहत्कल्पभाष्य ५७१७

वस्तुतः राग-द्वेष के विकल्प से मुक्त निर्विकल्प सुख ही सुख है ।

१७. अउलं सुहसपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ ।

—उत्तराध्ययन ३६।६६

मोक्ष में आत्मा अनन्त सुखमय रहता है । उस सुख की कोई उपमा नहीं है । और न कोई गणना ही है ।

१८. ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्ख ण वि व सव्व देवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाण ॥

—औपपातिक १८०

संसार के सब मनुष्यों और सब देवताओं को भी वह सुख प्राप्त नहीं है, जो सुख अव्याबाध स्थिति को प्राप्त हुए मुक्त आत्माओं को है ।

१९. केवलियनाण लंभो, नन्नत्थ खए कसायाणं ।

—आवश्यकनिर्युक्ति १०४

क्रोधादि कषायों को क्षय किए बिना केवलज्ञान (पूर्ण ज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती ।

२०. जे जत्तिआ अ हेउ भवस्स,
ते चेव तत्तिआ मुक्खे ।

—ओघनिर्युक्ति ५३

जो और जितने हेतु संसार के हैं वे और उतने ही हेतु मोक्ष के हैं ।

२१. इरिआवहमाईआ, जे चेव हवंति कम्मबंधाय ।
अजयाणं ते चेव उ, जयाणं निव्वाणगमणाय ॥

—ओघनिर्युक्ति ५४

जो ईर्यापथिक (गमनागमन) आदि क्रियाएँ असंयत के लिए कर्म बन्ध का कारण होती हैं, वे ही यतनाशील के लिए मुक्ति का कारण बन जाती हैं।

२२. मारभिसंकी मरणा पमुच्चइ।

—आचारांग १।३।१

मृत्यु से सदा सतर्क रहनेवाला साधक ही उससे छुटकारा पा सकता है।

२३. अग्इं आउट्टे से मेहावी खणसि मुक्के।

—आचारांग १।२।२

अरति (संयम के प्रति अरुचि) से मुक्त रहनेवाला साधक क्षण-भर में ही बन्धन मुक्त हो सकता है।

२४. छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं।

—उत्तराध्ययन ४।८

इच्छाओं को रोकने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।



४ सम्यग्दर्शन

१. तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स सम्मत्तं तु वियाहियं॥

—उत्तराध्ययन २८।१५

स्वयं या उपदेश से जीव-अजीव आदि सद्भावों में, सत्तत्वों में आन्तरिक—हार्दिक श्रद्धा **सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन** है।

२. यथार्थतत्त्वश्रद्धा सम्यक्त्वम्।

—जैनसिद्धान्तदीपिका ५।३

जीवादि तत्वों की यथार्थश्रद्धा (सम्यक्-विचार) करना **सम्यग्-दर्शन** है।

३. या देवे देवताबुद्धि र्गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधीःशुद्धा, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते॥

—योगशास्त्र २।२

वीतरागदेव में देव-बुद्धि का होना, सद्गुरु में गुरु-बुद्धि का होना और सच्चे धर्म में धर्म-बुद्धि का होना **सच्ची श्रद्धा** कहलाती है।

४. हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी।

—सूत्रपाहुड ५

जो हेय और उपादेय को जानता है, वही वास्तव में सम्यग्-दृष्टि है।

५. भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो।

—समयसार ११

जो भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ—शुद्धदृष्टि का अवलम्बन करता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

६. अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडुजीवो।

—भावपाहुड ३१

जो आत्मा, आत्मा में लीन है, वही वस्तुतः सम्यग्दृष्टि है।

७. नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो,
णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं॥

—उत्तराध्ययन २८।३०

सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ज्ञान के अभाव में चारित्र के गुण नहीं होते, गुणों के अभाव में मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के अभाव में निर्वाण (शाश्वत-आत्मानन्द) प्राप्त नहीं होता।

८. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं।

—उत्तराध्ययन २८।२९

सम्यक्त्व (सत्यदृष्टि) के अभाव में चारित्र नहीं हो सकता।

९. सम्मद्दिट्ठिस्स सुयं सुयणाणं,
मिच्छद्दिट्ठिस्स सुयं सुय अन्नाणं।

—नन्दीसूत्र ४४

सम्यग्-दृष्टि का श्रुत—श्रुतज्ञान है।
मिथ्यादृष्टि का श्रुत—श्रुत अज्ञान है।

१०. सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।

—आचारांग १।३।२

सम्यग्दर्शी साधक पापकर्म नहीं करता। अर्थात् वह पापों से सदा बचता रहता है।

११. कुणमाणोऽवि निवित्तिं,
परिच्चयंतोऽवि सयण-धण-भोए।
दितोंऽवि दुहस्स उरं,
मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झई उ॥

—आचारांगनिर्युक्ति २२०

एक साधक निर्वृत्ति की साधना करता है, स्वजन, धन और भोग-विलास का परित्याग करता है, अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता है, किन्तु यदि वह मिथ्यादृष्टि है, उसकी श्रद्धा विपरीत-पथगामी है तो अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त नही कर सकता।

१२. दंसणवओ हि सफलाणि, हुंति तवनाणचरणाइं।

—आचारांगनिर्युक्ति २२१

सम्यग्दृष्टि के ही तप, ज्ञान और चारित्र सफल होते हैं।

१३. सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पय लहइ जीवो।
जाणतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ॥

—समयसार १८६

जो अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करता है, वह शुद्धभाव को प्राप्त करता है और जो अशुद्धरूप का अनुभव करता है, वह अशुद्धभाव को प्राप्त होता है।

१४. जं कुणदि समदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्त।

—समयसार १९३

सम्यग्दृष्टि आत्मा जो कुछ भी तप, संयम आदि आचरण करता है, वह उसके कर्मो की निर्जरा के लिए ही होता है।

१५. जह विसमुवभुंजंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पुग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ॥
—समयसार १९५

जिस प्रकार वैद्य (औषधरूप में) विष खाता हुआ विष से मरता नहीं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्मोदय के कारण सुख-दुःख का अनुभव करते हुए भी उनसे बद्ध नहीं होता ।

१६. सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
—समयसार १९७

ज्ञानी आत्मा (अन्तर में रागादि का अभाव होने के कारण) विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता । अज्ञानी आत्मा (अन्तर में रागादि भाव होने के कारण) विषयों का सेवन नहीं करता हुआ भी सेवन करता है ।

१७. जीवविमुक्को सवओ, दंसणमुक्को य होइ चल सवओ ।
सवओ लोयअपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥
—भावपाहुड १४३

जीव से रहित शरीर—शव (मुर्दा-लाश) है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चलता-फिरता शव है । शव लोक में अनादरणीय (त्याज्य) होता है और वह चलशव लोकोत्तर अर्थात् धर्म-साधना के क्षेत्र में अनादरणीय और त्याज्य रहता है ।

१८. अवच्छलत्ते य दंसणे हाणी ।
—बृहत्कल्पभाष्य २७११

धार्मिकजनों में परस्पर वात्सल्यभाव की कमी होने पर सम्यग्दर्शन की हानि होती है ।

१९. दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं ।
—भक्तपरिज्ञा ६६

जो सम्यग्दर्शन मे भ्रष्ट है, वस्तुत वही भ्रष्ट है, पतित है, क्योंकि दर्शन से भ्रष्ट को मोक्ष प्राप्त नही होता।

२०. दविए दंसणसुद्धी दंसणसुद्धस्स चरणं तु।

—ओघनिर्युक्तिभाष्य ७

द्रव्यानुयोग (तत्वज्ञान) से दर्शन (दृष्टि) शुद्ध होता है और दर्शन शुद्धि होने पर चारित्र की प्राप्ति होती है।

२१. सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलभादो।

—भगवतीआराधना ७४२

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तीन लोक के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है।

२२. स्थैर्य प्रभावना भक्तिः कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पञ्चापि, भूषणानि प्रचक्षते॥

—योगशास्त्र २।१६

(१) धर्म मे स्थिरता, (२) धर्म की प्रभावना—व्याख्यानादि द्वारा (३) जिनशासन की भक्ति, (४) कुशलता—अज्ञानियों को धर्म समझाने मे निपुणता, (५) चार तीर्थ की सेवा— ये पाच सम्यक्त्व के भूषण है।



५ श्रद्धा

१. जाए सद्धाए निक्खंते तमेव अणुपालेज्जा,
विजहित्ता विसोत्तियं ।

—आचारांग १।१।३

जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, साधना पथ अपनाया है, उसी श्रद्धा के साथ विस्रोतसिका (मन की शंका या कुण्ठा) से दूर रहकर उसका अनुपालन करना चाहिए ।

२. वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं,
नो लहइ समाहिं ।

—आचारांग १।५।५

शंकाशील व्यक्ति को कभी समाधि नही मिलती ।

३. कहं कहं वा वितिगिच्छतिण्णे ।

—सूत्रकृतांग १।१४।६

मुमुक्षु को कैसे न कैसे मन की विचिकित्सा से पार हो जाना चाहिए । अर्थात शंकाशील नही रहना चाहिए ।

४. अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु ।

—सूत्रकृतांग २।३।११

नहीं देखनेवालो ! तुम देखनेवालों की बात पर विश्वास करके चलो ।

५. सद्धा परमदुल्लहा।

—उत्तराध्ययन ३।९

धर्म में श्रद्धा होना परम दुर्लभ है।

६. संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घरं।

—उत्तराध्ययन ९।२६

साधना में संशय वही करता है, जो कि मार्ग में ही घर करना (रुक जाना) चाहता है।

७. सद्धा खमं णे विणइअत्तु रागं।

—उत्तराध्ययन १४।२८

धर्म-श्रद्धा हमें राग (आसक्ति) से मुक्त कर सकती है।

८. जं सक्कइ तं कीरइ, जं न सक्कइ तयम्मि सद्दहणा।
सद्दहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं॥

- धर्मसंग्रह २।२१

जिसका आचरण हो सके, उसका आचरण करना चाहिए एवं जिसका आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा रखनी चाहिये। धर्म पर श्रद्धा रखता हुआ जीव भी जरा एवं मरणरहित मुक्ति का अधिकारी होता है।



६ ज्ञान और ज्ञानी

१. उद्देसो पासगस्स नत्थि ।

—आचारांग १।२।३

जो स्वयंद्रष्टा (ज्ञानी) है, उसे उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

२. आयंकदंसी न करेइ पावं ।

—आचारांग १।३।२

जो संसार के दु:खों को जानता है, वह ज्ञानी कभी पाप नहीं करता ।

३ पढमं नाणं तओ दया ।

—दशवैकालिक ४।१०

पहले ज्ञान होना चाहिए, फिर उसके अनुसार दया—अर्थात् आचरण ।

४. जहा सूई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ ।
एवं जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ ॥

—उत्तराध्ययन २९।५९

जैसे धागे (सूत्र) में पिरोई हुई सूई गिर जाने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानरूप धागे से युक्त आत्मा संसार में भटकता नहीं ।

५. णाणं णरस्स सारो।

—दर्शनपाहुड ३१

ज्ञान मानव-जीवन का सार है।

६. विन्नोणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छिउं।

—उत्तराध्ययन २३।३१

विज्ञान के द्वारा धर्म के साधनों का उचित निर्णय करना चाहिए।

७. सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाणं खवेई।

—उत्तराध्ययन २९।५९

ज्ञान की आराधना करने से आत्मा अज्ञान का नाश करती है।

८. सव्व जगुज्जोयकरं नाणं, नाणेण नज्जए चरणं।

—व्यवहारभाष्य ७।२१६

ज्ञान विश्व के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करनेवाला है। ज्ञान से ही मनुष्य को कर्तव्य का बोध होता है।

९. नाणंमि असंतंमि चरित्तं वि न विज्जए।

—व्यवहारभाष्य ७।२१७

जहां ज्ञान नहीं, वहां चारित्र भी नहीं रहता।



७ अज्ञान

१. अणाणाय पुट्ठा वि एगे नियट्टंति,
मंदा मोहेण पाउडा।

—आचारांग १।२।२

मोहाच्छन्न अज्ञानी साधक संकट आनेपर धर्मशासन की अवज्ञा कर फिर संसार की ओर लौट पड़ते हैं।

२. वितहं पप्पऽखेयन्ने,
तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ।

—आचारांग १।२।३

अज्ञानी साधक जब कभी असत्य विचारों को सुन लेता है, तो वह उन्हीं में उलझकर रह जाता है।

३. लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं।

—आचारांग १।३।१

यह समझ लीजिये कि संसार में अज्ञान तथा मोह ही अहित और दुःख करनेवाला है।

४. अंधो अंधं पहं णितो, दूरमद्धाणु गच्छइ।

—सूत्रकृतांग १।१।२।१६

अन्धा-अन्धे का पथप्रदर्शक बनता है, तो वह अभीष्ट मार्ग से दूर भटक जाता है।

५. एवं तक्काइ साहिता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा॥
—सूत्रकृतांग १।१।२।२२

जो धर्म और अधर्म से सर्वथा अनजान व्यक्ति केवल कल्पित तर्कों के आधार पर ही अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करते हैं, वे अपने कर्मबन्धन को तोड़ नहीं सकते, जैसे कि पक्षी पिंजरे को नहीं तोड पाता है।

६. सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया।
—सूत्रकृतांग १।१।२।२३

जो अपने मत की प्रशंसा, दूसरों के मत की निन्दा करने में ही अपना पांडित्य दिखाते हैं, वे एकान्तवादी संसारचक्र में भटकते ही रहते हैं।

७. जहा अस्साविणि णावं, जाइअंधो दुरूहिया।
इच्छइ पारमागंतुं अंतरा य विसीयई॥
—सूत्रकृतांग १।१।२।३१

अज्ञानी साधक उस जन्मांधव्यक्ति के समान है, जो छिद्रवाली नौकापर चढ़कर नदी के किनारे पहुंचना तो चाहता है, किन्तु किनारा आने से पहले ही बीच-प्रवाह में डूब जाता है।

८. समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं?
—सूत्रकृतांग १।१।१।३।१०

जो दुःखोत्पत्ति का कारण ही नहीं जानते, वह उसके निरोध का कारण कैसे जान पायेंगे?

९. अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेयपावगं?
—दशवैकालिक ४।१०

अज्ञानी आत्मा क्या करेगा ? वह पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगा ?

१०. जोवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाही संवरं ?

—दशवैकालिक ४।१२

जो न जीव (चैतन्य) को जानता है, और न अजीव (जड़) को, वह संयम को कैसे जान पायेगा ?

११. जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥

-- उत्तराध्ययन ६।१

जितने भी अज्ञानी-तत्त्व-बोध-हीन पुरुष है, वे सब दुःख के पात्र हैं । इस अनन्त संसार में वे मूढ प्राणी बार-बार विनाश को प्राप्त होते रहते हैं ।

१२. आसुरीयं दिसं बाला, गच्छंति अवमा तमं ।

—उत्तराध्ययन ७।१०

अज्ञानी जीव विवश हुये अन्धकाराच्छन्न आसुरीगति को प्राप्त होते हैं ।

१३. अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ।

—समयसार ९२

अज्ञानी आत्मा ही कर्मो का कर्त्ता होता है ।

१४. जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेहि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥

—समयसार २५३

जो ऐसा मानता है कि "मैं दूसरों को दुःखी या सुखी करता हूं"— वह वस्तुतः अज्ञानी है । ज्ञानी ऐसा कभी नहीं मानते ।

१५. जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्स-कोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥

—**प्रवचनसार** ३।३८

अज्ञानी साधक बाल तप के द्वारा लाखों-करोड़ों जन्मों में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म मन, वचन, काया को संयत रखनेवाला ज्ञानी साधक एक श्वास मात्र में खपा देता है ।

१६. जह ण्हाउत्तिण्ण गओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे ।
सुट्ठु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मलं चिणइ ।

—**बृहत्कल्पभाष्य** ११४७

जिस प्रकार हाथी स्नान करके फिर बहुत सी धूल अपने ऊपर डाल लेता है, वैसे ही अज्ञानी साधक साधना करता हुआ भी नया कर्ममल संचय करता जाता है ।

१७. ण केवलं वयबालो····कज्जं अयाणओ बालो चेव ।

—**आचारांगचूर्णि** १।२।३

केवल अवस्था से ही कोई बाल (बालक) नहीं होता, किन्तु जिसे अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है वह भी 'बाल' ही है ।

१८. भावे णाणावरणातीणि पंको ।

—**निशीथचूर्णि** ७०

भाव दृष्टि से ज्ञानावरण (अज्ञान) आदि दोष आभ्यन्तर-पंक हैं ।

१९. अगीअत्थस्स वयणेणं अमयंपि न घुंटए ।

—**गच्छाचारपइण्णा** ४६

अगीतार्थ—अज्ञानी के कहने से अमृत भी नहीं पीना चाहिये ।

२०. अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं ।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं ॥

—**ऋषिभाषित** २१।१

अज्ञान सबसे बड़ा दुख है। अज्ञान से भय उत्पन्न होता है, सब प्राणियों के संसार-भ्रमण का मूलकारण अज्ञान ही है।

२१. तत्थ मंदा विसीयंति उज्जाणंसि व दुब्बला।

—सूत्रकृतांग १।३।२।२१

ऊंची भूमि पर चढ़ते हुए दुर्बल बैलों की तरह अज्ञानी जीव जीवन की चढ़ाई में विषादग्रस्त होता है।

२२. नह्यज्ञानात् परः पशुरस्ति।

—नीतिवाक्यामृत ५।३७

अज्ञान से बढ़कर कोई पशु नहीं है।



८ समभाव

१. उवेह एणं बहिया य लोगं,
से सव्व लोगम्मि जे केइ विण्णू।

—आचारांग १।४।३

अपने धर्म से विपरीत रहनेवालों के प्रति भी उपेक्षाभाव [मध्यस्थता का भाव] रखो। अर्थात् जो कोई विरोधियों के प्रति उपेक्षा [तटस्थता] रखता है, वह समग्र विश्व के विद्वानों में अग्रणी विद्वान् है।

२. सम्मं मे सव्व भूदेसु, वेरं मज्झ न केणइ।

—नियमसार १०२

सब प्राणियों के प्रति मेरा एक जैसा समभाव है, किसी से मेरा वैर नहीं है।

३. जीवियं नाभिकंखिज्जा,
मरणं नोवि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जेज्जा,
जीविए मरणे तहा॥

—आचारांग १।८।८।४

साधक न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे। वह जीवन और मरण दोनों में ही किसी तरह की आसक्ति न रखे, तटस्थभाव से रहे।

४. गंथेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए ।

—आचारांग १।८।८।११

साधक को अन्दर और बाहर सभी ग्रन्थियों (बन्धन रूप गांठों) से मुक्त होकर जीवनयात्रा पूर्ण करनी चाहिए ।

५. सामाइयमाहु तस्स जं,
जो अप्पाण भए ण दंसए ॥

—सूत्रकृतांग १२२१७

समभाव उसी को रह सकता है, जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है ।

६. सव्वं जगं तु समयाणुपेही,
पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा ।

—सूत्रकृतांग १.१०।६

समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय । अर्थात् समदर्शी अपने पराये की भेद बुद्धि से परे होता है ।

७. वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो राग दोसेहिं समो स पुज्जो ।

—दशवैकालिक ६।३।११

जो अपने को अपने से जानकर राग-द्वेष के प्रसंगों में सम रहता है, वही साधक पूज्य है ।

८. लाभा लाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदा पंससासु, समो माणावमाणओ ॥

—उत्तराध्ययन १६।६१

जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है वही वस्तुतः मुनि है ।

९. चारित्तं समभावो ।

—पंचास्तिकाय १०७

समभाव ही चारित्र है ।

१०. तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिआ ।

—बोधपाहुड ४०

तृण और कनक (सोना) में जब समानबुद्धि रहती है, तभी उसे प्रव्रज्या (दीक्षा) कहा जाता है ।

११ दुज्जणवयणचडक्कं, णिट्ठुर कडुयं सहंति सप्पुरिसा ।

—भावपाहुड १०७

सज्जन-पुरुप दुर्जनों के निष्ठुर और कठोर वचनरूप चपेटों को भी समभावपूर्वक सहन करते हैं ।

१२. समभावः सामाइयं ।

—सूत्रकृतांगचूर्णि १।२।२

समभाव ही सामायिक है ।

१३. धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह ।
उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह ॥

—औपपातिकसूत्र ५८

प्रभो ! आपने धर्म का उपदेश देते हुए उपशम का उपदेश दिया और उपशम का उपदेश देते हुए विवेक का उपदेश दिया । अर्थात् धर्म का सार उपशम-समभाव है और समभाव का सार है—विवेक !

१४. जह मम ण पियं दुक्खं जाणिअ एमेव सव्व जीवाणं ।
न हणइ न हणावेइ अ, सम मणइ तेण सो समणो ॥

—अनुयोगद्वार १२९

जिसप्रकार मुझको दुःख प्रिय नहीं है, उसीप्रकार सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है, जो ऐसा जानकर न स्वयं हिंसा करता है न किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्वयोगी ही सच्चा श्रमण है।

१५. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो॥

—प्रवचनसार १।७

चारित्र ही वास्तव में धर्म है, और जो धर्म है वह समत्व है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का अपना शुद्ध-परिणमन ही समत्व है।

१६. समणो समसुह-दुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।

—प्रवचनसार १।१४

जो सुख-दुःख में समानभाव रखता है, वही वीतराग श्रमण शुद्ध-उपयोगी कहा गया है।

१७. जस्स सामाणिओ अप्पा, सजमे णिअमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिअं॥

—अनुयोगद्वार १२७

जिसकी आत्मा सयम में, नियम मे एवं तप में सुस्थिर है, उसी की सच्ची सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

१८. जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिअं॥

—अनुयोगद्वार १२८

जो त्रस (कीट, पंतगादि) और स्थावर (पृथ्वी, जल आदि) सब जीवों के प्रति सम है अर्थात् समत्वयुक्त है, उसी की सच्ची सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

१९. समभावो सामायियं, तं सकसायस्स णो विसुज्झेज्जा।

—निशीथचूर्णि २८४६

समभाव सामायिक है, अतः कषाययुक्त व्यक्ति का सामायिक विशुद्ध नहीं होता।

२०. आया णे अज्जो! सामाइए,
आया णे अज्जो! सामाइस्स अट्ठे।

—भगवती १।९

हे आर्य! आत्मा ही सामायिक [समत्वभाव] है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ [विशुद्धि] है।

२१. सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।

—उत्तराध्ययन २९।८

सामायिक की साधना से पापकारी प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है।

२२. किं तिव्वेण तवेणं, किं जवेणं किं चरित्तेणं।
समयाइ विण मुक्खो, न हु हूओ कहवि न हु होइ॥

—सामायिकप्रवचन, पृष्ठ ७८

चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप-जपे अथवा मुनि-वेष धारण कर स्थूल क्रियाकाण्डरूप चारित्र-पाले; परन्तु समता भावरूप सामायिक के विना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा।

२३. सेयंबरो वा, आसंबरो वा, बुद्धो वा, तहेव अन्नो वा।
समभाव-भाविअप्पा लहइ मोक्खं न संदेहो॥

हरिभद्रसूरि

चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बुद्ध या, कोई अन्य हो। समता से भावित आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त करती है।



९ संयम

१. जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥

—सूत्रकृतांग १।८।१६

कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अन्दर में समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्मयोग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पापवृत्तियों से सुरक्षित रखे।

२. चउव्विहे संजमे—
मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसंजमे।

—स्थानांग ४।२

संयम के चार रूप हैं—
मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और उपधि—सामग्री का संयम। चारों प्रकार का संयम ही सम्पूर्ण संयम है।

३. गरहा संजमे, नो अगरहा संजमे।

—भगवती १।९

गर्हा (पापों के प्रति घृणा करके आत्मा की निंदा करना) संयम है, अगर्हा संयम नहीं है।

४. भोगी भोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे,
महापज्जवसाणे भवइ।

—भगवती ७।७

भोग समर्थ होते हुए भी जो भोगों का परित्याग करता है, वह कर्मों की महान निर्जरा करता है। उसे मुक्तिरूप महाफल प्राप्त होता है।

५. अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ।

—दशवैकालिक २।२

जो पराधीनता के कारण विषयों का उपभोग नहीं कर पाते, उन्हें त्यागी नहीं कहा जा सकता।

६. जे य कते पिये भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥

—दशवैकालिक २।३

जो मनोहर और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनता-पूर्वक उन्हें पीठ दिखा देता है—त्याग देता है, वस्तुतः वही त्यागी है।

७. अप्पा हु खलु सययं रक्खिअव्वो।

—दशवैकालिक २।१६

अपनी आत्मा को सतत पापों से बचाए रखना चाहिए।

८. जाउ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणा नावा, सा उ पारस्सगामिणी॥

—उत्तराध्ययन २३।७१

छिद्रोंवाली नौका पार नहीं पहुंच सकती, किन्तु जिस नौका में छिद्र नहीं है वही पार पहुंच सकती है।असंयम छिद्र है, उन छिद्रों को रोकना संयम है अर्थात् संयमी आत्मा ही संसार सागर को पार कर सकती है।

९. सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥

—उत्तराध्ययन २३।७३

यह शरीर नौका है, जीव आत्मा उसका नाविक है और संसार समुद्र है। महर्षि इस देहरूप नौका के द्वारा संसार-सागर को तैर जाते हैं।

१०. भावे अ असंजमो सत्थं।

—आचारांगनिर्युक्ति ९६

भावदृष्टि से संसार में असंयम ही सबसे बड़ा शस्त्र है।

११. भावंमि उ पव्वज्जा आरंभपरिग्गहच्चाओ।

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति २६३

हिंसा और परिग्रह का त्याग ही वस्तुतः भावप्रव्रज्या है।

१२. मणसंजमो णाम अकुसल मणनिरोहो,
कुसलमण उदीरणं वा।

—दशवैकालिकचूर्णि १

अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन – मन का संयम है।

१३ अण्णाणोवचियस्स, कम्मचयस्स रित्तीकरणं चारित्तं।

- निशीथचूर्णि ४६

अज्ञान से संचित कर्मों के उपचय को रिक्त करना-चारित्र है।

१४. सम्मद्दंसण णाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे।

—द्रव्यसंग्रह ३९

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र—यही रत्न त्रय मोक्ष का साधन है।

१५. असुहादो विणिवित्ति,
सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।

—द्रव्यसंग्रह ४५

अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति करना—इसे ही चारित्र समझना चाहिए।

१६ तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं, तत्त्वप्रख्यापकं भवेज् ज्ञानम् ।
पापक्रियानिवृत्ति-श्चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ॥

—ज्ञानार्णव, पृष्ठ ६१

जिनेन्द्र भगवान ने तत्त्वविषयक रुचि को **सम्यग्दर्शन**, तत्त्वविषयक विशेषज्ञान को **सम्यक्ज्ञान** और पापमय क्रिया से निवृत्ति को **सम्यक्चारित्र** कहा है।



१० आत्म-विजय

१. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

—आचारांग १।३।३

मानव ! अपने आपको ही निग्रह (सयत) कर। स्वय के निग्रह (संयम) से ही तू दुःख से मुक्त हो सकता है।

२. जे एगं नामे, से बहुं नामे ।

—आचारांग १।३।४

जो अपने-आप को नमा लेता है—जीत लेता है, वह समग्र संसार को नमा लेता है।

३. इमेण चेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण बज्झाओ ।

—आचारांग १।५।३

अपने अन्तर (के विकारों) से ही युद्ध कर। बाहर के युद्ध से तुझे क्या प्राप्त होगा ?

४. जुद्धारिहं खलु दुल्लभं ।

—आचारांग १।५।३

विकारों से युद्ध करने के लिए फिर यह अवसर (मानवजन्म) मिलना दुर्लभ है।

५. अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ।

—सूत्रकृतांग १।१।२।१७

जो अपने पर अनुशासन नहीं रख सकता, वह दूसरों पर अनुशासन कैसे कर सकता है ?

६. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ।।

—उत्तराध्ययन १।१५

अपने-आप पर नियत्रण रखना चाहिये । अपने आप पर नियत्रण रखना वस्तुत: कठिन है । अपने पर नियन्त्रण रखने-वाला ही इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है ।

७. वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहिं वहेहि य ।।

—उत्तराध्ययन १।१६

दूसरे वध और बंधन आदि से दमन करें, इससे तो अच्छा है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपना (इच्छाओं का) दमन कर लूँ ।

८. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ।।

—उत्तराध्ययन ६।३४

भयंकर युद्ध में हजारों-हजार दुर्दान्त शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा अपने-आप को जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है ।

६. सव्वं अप्पे जिए जियं ।

—उत्तराध्ययन ६।३६

एक अपने (विकारों) को जीत लेने पर सब को जीत लिया जाता है ।

१०. एगप्पा अजिए सत्तू ।

—उत्तराध्ययन २३।३८

स्वयं की अविजित—असंयत आत्मा ही स्वयं का एक शत्रु है ।

११. सद्देसु अ रूवेसु अ,
गंधेसु रसेसु तह य फासेसु ।
न वि रज्जइ न वि दुस्सइ,
एसा खलु इंदिअप्पणिही ।।

—दशवैकालिक निर्युक्ति २९५

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में जिसका चित्त न तो अनुरक्त होता है और न द्वेष करता है, उसी का इन्द्रिय-निग्रह प्रशस्त होता है ।

१२. जस्स खलु दुप्पणिहिआणि इंदिआइं तवं चरंतस्स ।
सो हीरइ असहीणेहिं सारही व तुरंगेहिं ।।

—दशवैकालिकनिर्युक्ति २९८

जिस साधक की इन्द्रियाँ, कुमार्गगामिनी हो गई हैं, वह दुष्ट घोड़ों के वश में पड़े सारथि की तरह उत्पथ में भटक जाता है ।



११ मनोनिग्रह

१. निग्गहिए मणपसरे, अप्पा परमप्पा हवइ ।

—आराधनासार २०

मन के विकल्पों को रोक देने पर आत्मा, परत्मात्मा बन जाता है ।

२. मणणरवइए मरणे, मरंति सेणाइं इन्दियमयाइं ।

—आराधनासार ६०

मन रूप राजा के मर जाने पर इन्द्रियांरूप सेना तो स्वयं ही मर जाती हैं । (अतः मन को मारने—वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए ।)

३. सुण्णीकयम्मि चित्ते, णूणं अप्पा पयासेइ ।

—आराधनासार ७४

चित्त को (विषयों से) शून्य कर देने पर उसमें आत्मा का प्रकाश झलक उठता है ।

४. मणं परिजाणइ से णिग्गंथे ।

—आचारांग २।३।१५।१

जो अपने मन को अच्छी तरह परखना जानता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ होता है ।

५. मणोसाहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्मसिक्खाइ कंथगं।

उत्तराध्ययन २३।५८

यह मन बड़ा साहसिक, भयंकर दुष्ट घोड़ा है, जो बड़ी तेजी के साथ चारों ओर दौड़ रहा है। मैं धर्म शिक्षारूप लगाम से उस घोड़े को अच्छी तरह अपने वश में किये हुए हूं।

६. जइया मणु णिग्गंथ जिय तईया तुहु णिग्गंथु।
जइया तुह णिग्गंथ जिय, तो लब्भइ सिव पंथु।

—योगसार ७३

हे जीव ! जब तेरा मन निर्ग्रन्थ (रागयुक्त) हो जायगा, तभी तू सच्चा निर्ग्रन्थ बनेगा, और जब सच्चा निर्ग्रन्थ बनेगा तभी शिवपंथ मिलेगा।



१२ अप्रमाद

१. जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे त्ति पवुच्चति।

—आचारांग १।१।४

जो प्रमत्त है, विषयासक्त है, वह निश्चय ही जीवों को दण्ड (पीड़ा) देनेवाला होता है।

२. तं परिण्णाय मेहावी,
इयाणिं णो, जमहं पुव्वमकासी पमाएणं।

—आचारांग १।१।४

मेधावी साधक को आत्म-ज्ञान के द्वारा यह निश्चय करना चाहिये कि—"मैंने पूर्व जीवन में प्रमाद वश जो कुछ भूलें की हैं, वे अब कभी नहीं करूँगा।"

३. अंतरं च खलु इमं संपेहाए,
धीरो मुहुत्तमवि णो पमायए।

—आचारांग १।२।१

अनन्त जीवन-प्रवाह में मानव-जीवन को बीच का एक सुअवसर जान कर, धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे।

४. अलं कुसलस्स पमाएणं!

—आचारांग १।२।४

बुद्धिमान साधक को अपनी साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

५. सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ ।

—आचारांग १।२।६

मनुष्य अपनी ही भूलों से संसार की विचित्र स्थितियों में फंस जाता है ।

६. सव्वओ पमत्तस्स भयं,
सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं ।

—आचारांग १।३।४

प्रमत्त को सब ओर से भय रहता है ।
अप्रमत्त को किसी भी ओर से भय नहीं है ।

७. उट्ठिए नो पमायए !

—आचारांग १।५।२

जो कर्तव्य पथ पर खड़ा हुआ है, उसे फिर प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

८. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं ।

—सूत्रकृतांग १।८।३

प्रमाद को कर्म-आश्रव (कर्म का हेतु) और अप्रमाद को अकर्म-संवर कहा है ।

९. जे छेय से विप्पमायं न कुज्जा ।

—सूत्रकृतांग १।१४।१

चतुर वही है, जो प्रमाद न करे ।

१०. जे ते अप्पमत्तसंजया ते णं
नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव-अणारंभा ।

—भगवती १।१

आत्मसाधना में अप्रमत्त रहनेवाले साधक न अपनी हिंसा करते हैं न दूसरों की, वे सर्वथा अनारम्भ-अहिंसक रहते हैं ।

११. अप्पमत्तो जये निच्चं ।

—दशवैकालिक ८।१६

सदा अप्रमत्तभाव से साधना में यत्नशील रहना चाहिए ।

१२. घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते ।

—उत्तराध्ययन ४।६

समय बड़ा भयंकर है, और इधर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता हुआ शरीर है। अतः साधक को सदा अप्रमत्त होकर भारंडपक्षी (सतत सतर्क रहनेवाला एक पौराणिक पक्षी) की तरह विचरण करना चाहिए ।

१३. सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी ।

—उत्तराध्ययन ४।६

प्रबुद्ध साधक सोये हुओं (प्रमत्त मनुष्यों) के बीच भी सदा जागृत-अप्रमत्त रहे ।

१४. मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया ।
इअ पंचविहो ऐसो होई पमाओ य अप्पमाओ ॥

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति १८०

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा (अर्थहीन राग-द्वेष-वर्द्धक वार्ता) यह पांच प्रकार का प्रमाद है। इनसे विरक्त होना ही अप्रमाद है ।

१५. अप्पमत्तस्स णत्थि भयं, गच्छतो चिट्ठतो भुंजमाणस्स वा ।

—आचारांगचूर्णि १।३।४

अप्रमत्त (सदा सावधान) को चलते, खड़े होते, खाते, कहीं भी कोई भय नहीं है ।

१६. पमत्ते बहिया पास ।

—आचारांग ५।२।१५१

प्रमादी को धर्म से बाहर दूर समझो ।

१७. अलसः सर्वकर्मणामनधिकारी ।

—नीतिवाक्यामृत १०।१४४

आलसी व्यक्ति सब कार्यों के लिए अयोग्य होता है ।



१३ अनासक्ति

१. आसं च छंदं च विगिंच धीरे !

—आचारांग १।२।४

हे धीर पुरुष ! आशा-तृष्णा और स्वच्छन्दता का त्याग कर।

२. जस्स नत्थि पुरा पच्छा,
मज्झे तस्स कुओ सिया ?

—आचारांग १।४।४

जिसको न कुछ पहले है और न कुछ पीछे है, उसको बीच में कहां से होगा ?

[जिस साधक को न पूर्व भुक्तभोगों की स्मृति (आसक्ति) है, और न भविष्य के भोगों की ही कोई कामना होती है, उसको वर्तमान में भोगासक्ति कैसे हो सकती है ?]

३. गुरु से कामा, तओ से मारस्स अंतो,
जओ से मारस्स अंतो, तओ से दूरे।
नेव से अंतो नेव दूरे।

—आचारांग १।५।१

जिसकी कामनायें तीव्र होती हैं, वह मृत्यु से ग्रस्त होता है और वह शाश्वत सुख से दूर रहता है।

परन्तु जो निष्काम होता है, वह न मृत्यु से ग्रस्त होता है, और न शाश्वत सुख से दूर। निष्कामता ही सुख व अमरता का मार्ग है।

४. सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था।

—स्थानांग ६।१

भगवान ने, जीवन में सर्वत्र निष्कामता (अनिदानता) को श्रेष्ठ बताया है।

५. कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं।

- दशवैकालिक २।५

कामनाओं को दूर करना ही वास्तव में दुःखों को दूर करना है।

६. वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे।

—दशवैकालिक २।७

वमन किये हुये (त्यक्त विषयों) को फिर से पीना (पाना) चाहते हो? इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है।

७. इहलोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं।

—उत्तराध्ययन १६।४५

जो व्यक्ति इस संसार की पिपासा-तृष्णा से रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन कार्य नहीं है।

८. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं।
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।

—उत्तराध्ययन ३२।१६

मनुष्यों व देवताओं के इस समग्र-संसार में जो भी दुःख है, वे सब कामासक्ति के कारण ही उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जिसकी कामासक्ति मिटगई उसे संसार में कहीं कुछ भी दुःख नहीं हैं।

९. कामनियत्तमई खलु, संसारा मुच्चई खिप्पं।

—आचारांगनिर्युक्ति १७७

जिसकी मति, काम (वासना) से मुक्त है, वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है।

१०. णहि णिरवेक्खो चागो.
ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स हि चित्ते.
कहं णु कम्मक्खओ होदि ॥

—प्रवचनसार ३।२०

जब तक निरपेक्ष (आशा-प्रत्याशारहित) त्याग नहीं होता है, तब तक साधक की चित्तशुद्धि नही होती है। और जब तक चित्तशुद्धि (उपयोग की निर्मलता) नही होती है, तब तक कर्म-क्षय कैसे हो सकता है ?

११. तण-कट्ठेहिं व अग्गी, लवणजलो व नईसहस्सेहिं।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेउं ॥

—आतुर-प्रत्याख्यान ५०

जिस प्रकार तृण व काष्ठ से अग्नि, तथा हजारों नदियों से समुद्र तृप्त नही होता है, उसी प्रकार रागासक्त आत्मा कामभोगों से कभी तृप्त नही हो पाता।

१२. विणीय तण्हो विहरे।

—दशवैकालिक ८।६०

तृष्णा से मुक्त होकर विचरना चाहिए।

१३ मेहावी अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।

—सूत्रकृतांग ८।१३

गृद्धि-आसक्ति से अपने को उबारना बचाना चाहिए।

१४. से हु चक्खू मणुस्साणं जे कंखाए य अंतए।

—सूत्रकृतांग १५।१४

वही व्यक्ति मनुष्यों में चक्षु के समान मार्गदर्शक हो सकता है, जिसने तृष्णा का अंत कर दिया है।

१५. असज्जमाणे अपडिबद्धे या वि विहरइ।

—उत्तराध्ययन २६।३०

जो अनासक्त है, वह सर्वत्र अप्रतिबद्ध—स्वतंत्ररूप से विचरता है।

१६. ममत्तबंधं च महब्भयावहं।

—उत्तराध्ययन १९।९८

ममत्व का बंधन महा भय करनेवाला है।



१४ काम-विषय

१. जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ।

—आचारांग १।१।५

जो काम-गुण हैं, इन्द्रियों के शब्दादि विषय हैं, वह आवर्त—संसार-चक्र है। और जो आवर्त है वह काम-गुण है।

२. आतुरा परितावेंति ।

—आचारांग १।१।६

विषयातुर मनुष्य ही दूसरे प्राणियों को परिताप देते हैं।

३. कामा दुरतिक्कम्मा ।

—आचारांग १।२।५

कामनाओं का पार पाना बहुत कठिन है।

४. कामेसु गिद्धा निचयं करेंति ।

—आचारांग १।३।२

कामभोगों में गृद्ध—आसक्त रहनेवाले व्यक्ति कर्मों का बन्धन करते हैं।

५. मोहं जंति नरा असंवुडा ।

—सूत्रकृतांग १।२।१।२७

इन्द्रियों के दास असंवृत मनुष्य हिताहित-निर्णय के क्षणों में मोह-मुग्ध हो जाते हैं।

६. कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं।

—उत्तराध्ययन ९।५३

काम-भोग की लालसा ही लालसा में प्राणी, एक दिन उन्हें बिना भोगे दुर्गति में चला जाता है।

७. सव्वे कामा दुहावहा।

—उत्तराध्ययन १३।१६

सभी काम-भोग अन्ततः दुःखावह (दुःखद) ही होते हैं।

८. अज्झत्थ हेउं निययस्स बंधो।

—उत्तराध्ययन १४।१९

अन्दर के विकार ही वस्तुतः बन्धन के हेतु हैं।

९. उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई॥

—उत्तराध्ययन २५।४१

जो भोगी (भोगासक्त) है, वह कर्मों से लिप्त होता है। और जो अभोगी हैं, भोगासक्त नहीं है, वह कर्मो से लिप्त नहीं होता। भोगासक्त संसार में परिभ्रमण करता है। भोगों में अनासक्त ही संसार से मुक्त होता है।

१०. विरत्ता हु न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए।

—उत्तराध्ययन २५।४३

मिट्टी के सूखे गोले के समान विरक्त साधक कहीं भी चिपकता नहीं है, अर्थात् आसक्त नहीं होता। और न उसके रागरहित भावों में कर्मबंध ही होता है।

११. उक्कामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा।

—दशवैकालिकनिर्युक्ति १६४

शब्द आदि विषय आत्मा को धर्म से उत्क्रमण करा देते हैं, दूर हटा देते हैं, अतः इन्हें 'काम' कहा है।

१२. अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
—मोक्षपाहुड ५

इन्द्रियों में आसक्ति बहिरात्मा है और अन्तरंग में आत्मानुभव रूप आत्मसंकल्प अन्तरात्मा है।

१३. चक्खिंदियदुद्दंतत्तणस्स, अह एत्तिओ हवइ दोसो।
जं जलणंमि जलंते, पडइपयंगो अबुद्धीओ॥
—ज्ञाताधर्मकथा १।१७।४

चक्षुष् इन्द्रिय की आसक्ति का इतना बुरा परिणाम होता है कि मूर्ख पतंगा जलती हुई आग में गिरकर मर जाता है।

१४. विषीदन्ति—धर्मं प्रति नोत्सहन्ते एतेष्विति विषयाः।
—उत्तराध्ययन अ० ४ टीका

जिनमें पडने से प्राणी धर्म के उत्साह से हीन हो जाए, वे विषय हैं।

१५. विषीयन्ते निबध्यन्ते विषयिणोऽस्मिन्निति विषयः।
—भगवती ८।२ टीका

जिसमें विषयी प्राणी बंध जायें, उसका नाम विषय है।

१६. न काम भोगा समयं उवेंति,
न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ।
—उत्तराध्ययन ३२।१०१

काम भोग-शब्दादि विषय न तो स्वयं में समता के कारण होते हैं और न विकृति के ही। किन्तु जो उनमें द्वेष या राग करता है, वह उनमें मोह से राग-द्वेप रूप विकार को उत्पन्न करता है।

१७. अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः ।

—आत्मानुशासन ३५

विषयान्ध व्यक्ति अन्धो मे सबसे बड़ा अन्धा है ।

१८. कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ।

—नीतिवाक्यामृत ३।१२

कामासक्त व्यक्ति का कोई इलाज नही है । अर्थात् काम-रोग की कोई चिकित्सा नहीं है ।

१९. तुमं चेव सल्लमाहट्टु ।

—आचारांग १।२।४

तू स्वयं ही अपना शल्य (काटा) है । अर्थात् तेरी विषयासक्त वृत्ति ही तेरे लिए काटा है ।

२०. खणमित्तसुक्खा, बहुकालदुक्खा ।

—उत्तराध्ययन १४।१३

ससार के विषय भोग क्षण मात्र के लिए सुख देते है, किन्तु बदले मे चिरकाल तक दुःखदायी होते है ।

२१. अदक्खु कामाइं रोगवं ।

—सूत्रकृतांग १।२।३।२

सच्चे साधक की दृष्टि मे काम-भोग रोग के समान है ।

२२. देवा वि सइंदगा न तित्तिं न तुट्ठिं उवलभंति ।

- प्रश्नव्याकरण १।५

देवता और इन्द्र भी न (भोगों से) कभी तृप्त होते है और न संतुष्ट ।

२३. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।

—उत्तराध्ययन ४।५

प्रमत्त मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नहीं कर सकता, न इस लोक में और न पर लोक में।

२४. इहलोए ताव नट्ठा, परलोए वि य नट्ठा।

—प्रश्नव्याकरण १।४

विषयासक्त इस लोक में भी नष्ट होते हैं और परलोक में भी।

२५. उवणमंति मरणधम्मं अवित्तात्ता कामाणं।

—प्रश्नव्याकरण १।४

अच्छे से अच्छे सुखोपभोग करनेवाले देवता और चक्रवर्ती आदि भी अन्त में काम भोगों से अतृप्त ही मृत्य को प्राप्त होते हैं।



१५ तपोमार्ग

१. नो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।

—सूत्रकृतांग १।७।२७

तप के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए ।

२. सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइ विसेस कोई ।

—उत्तराध्ययन १२।३७

तप (चरित्र) की विशेषता तो प्रत्यक्ष में दिखाई देती है । किन्तु जाति की कोई विशेषता नजर नहीं आती ।

३. तवो जोई जीवो जोइ ठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ।।

—उत्तराध्ययन १२।४४

तप ज्योति अर्थात् अग्नि है । जीव ज्योति-स्थान है । मन, वचन और काया के योगस्रुवा—आहुति देने की कड़छी है । शरीर कारीषांग—अग्नि प्रज्वलित करने का साधन है । कर्म जलाए जानेवाला इंधन है । संयमयोग शान्ति पाठ है । मैं इस प्रकार का यज्ञ-होम करता हूं जिसे ऋषियों ने श्रेष्ठ बताया है ।

४. भवकोडी-संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ।

—उत्तराध्ययन ३०।६

साधक करोड़ोंभवों के संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देता है।

५. जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्ममट्ठविहं॥

—आचारांगनिर्युक्ति २८२

जिसप्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार आध्यात्मिक तपःसाधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाता है।

६. निउणो वि जीव पोओ, तवसंजममारुअविहूणो।

—आवश्यकनिर्युक्ति ९६

शास्त्र ज्ञान में कुशल साधक भी तप, संयमरूप पवन के बिना संसार सागर को तैर नहीं सकता।

७. जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥

—प्रवचनसार ३।२७

परवस्तु की आसक्ति से रहित होना ही, आत्मा का निराहार रूप वास्तविक तप है। अस्तु, जो श्रमण भिक्षा में दोष-रहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह निश्चयदृष्टि से अनाहार (तपस्वी) ही है।

८. जहा तवस्सी धुणते तवेणं,
कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता।

—बृहत्कल्पभाष्य ४४०१

जिस प्रकार तपस्वी तप के द्वारा कर्मों को धुन डालता है, वैसे ही तप का अनुमोदन करने वाला भी।

९. तवस्स मूलं धिती।

—निशीथचूर्णि ८४

तप का मूल धृति अर्थात् धैर्य है।

१०. सो नाम अणसणतवो, जेण मणो ऽ मंगुल न चिंतेइ।
जेण न इन्दियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥
— मरणसमाधि १३४

वही अनशन तप श्रेष्ठ है, जिससे कि मन अमंगल न सोचे, इन्द्रियों की हानि न हो, और नित्य प्रति की योग—धर्म क्रियाओं में विघ्न न आए।

११. तवेण परिसुज्झई।
—उत्तराध्ययन २८।३५

तपस्या से आत्मा पवित्र होती है।

१२. तवेणं वोदाणं जणयइ।
—उत्तराध्ययन २९।२७

तप से कर्मों का व्यवदान –(आत्मा से दूर हटना) होता है।

१३. बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥
—दशवैकालिक ८।३५

अपना बल, दृढ़ता, श्रद्धा, आरोग्य तथा क्षेत्र-काल को देखकर आत्मा को तपश्चर्या में लगाना चाहिए।

१४. तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणिच।
—तपोष्टक

तप वैसा ही करना चाहिए, जिसमें दुर्ध्यान न हो, योगों की हानि न हो और इन्द्रियाँ क्षीण न हों!

१५. नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा
—दशवैकालिक ९।४

केवल कर्म-निर्जरा के लिए तपस्या करना चाहिए। इहलोक-परलोक व यशःकीर्ति के लिए नहीं।

१६. एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं।

—आचारांग १।४।३

आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को अर्थात् कर्मों को धुन डालो।

१७. कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं।

—आचारांग १।४।३

अपने को कृश करो; तन-मन को हल्का करो।
अपने को जीर्ण करो, भोगवृत्ति को जर्जर करो।



१६ ध्यान-साधना

१. काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नपायच्छित्तं विसोहेइ विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारुव्व भारवाहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेण विहरइ ।

—उत्तराध्ययन २६।१२

कायोत्सर्ग (ध्यान अवस्था मे समस्त चेष्टाओ का परित्याग) करने से जीव अतीत एवं वर्तमान के दोषो की विशुद्धि करता है और विशुद्ध-प्रायश्चित्त होकर सिर पर से भार के उतर जाने से एक भारवाहकवत् हल्का होकर सद्ध्यान मे रमण करता हुआ सुखपूर्वक विचरता है ।

२. ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः ।

—अभिधानचिन्तामणि १।८४

ध्येय मे एकाग्रता का हो जाना **ध्यान** है ।

३. चितस्सेगग्गया हवइ झाणं ।

—आवश्यकनिर्युक्ति १४५६

किसी एक विषय पर चित्त को एकाग्र—स्थिर करना **ध्यान** है ।

४. मोक्षः कर्मक्षयादेव, स चात्मज्ञानतो भवेत् ।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः ।

—योगशास्त्र ४।११३

कर्म के क्षय से मोक्ष होता है, आत्मज्ञान से कर्म का क्षय होता है और ध्यान से आत्मज्ञान प्राप्त होता है। अतः ध्यान आत्मा के लिए अत्यंत हितकारी माना गया है।

५. झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिक्कमणं ॥

—नियमसार ९३

ध्यान में लीन हुआ साधक सब दोषों का निवारण कर सकता है। इसलिए ध्यान ही समग्र अतिचारों (दोषों) का प्रतिक्रमण है।

६. वीतरागो विमुच्येत, वीतरागं विचिन्तयन्।

—योगशास्त्र ९।१३

वीतराग का ध्यान करता हुआ योगी स्वय वीतराग होकर कर्मों से या वासनाओं से मुक्त हो जाता है।

७. ओयं चित्तं समादाय झाणं समुप्पज्जइ।
धम्मे ठिओ अ विमणे, निव्वाणमभिगच्छइ ॥

—दशाश्रुतस्कंध ५।१

चित्तवृत्ति निर्मल होने पर ही ध्यान की सही स्थिति प्राप्त होती है। जो बिना किसी विमनस्कता के निर्मल मन से धर्म में स्थित है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

८. णेम चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ।

—दशाश्रुतस्कंध ५।२

निर्मल चित्तवाला साधक संसार में पुनः जन्म नहीं लेता।



१७ कर्म-अकर्म

१. अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ ।

—आचारांग १।३।१

जो कर्म में से अकर्म की स्थिति में पहुंच गया है, वह तत्त्वदर्शी लोक व्यवहार की सीमा से परे हो गया है

२. कम्मुणा उवाही जायइ ।

—आचारांग १।३।१

कर्म से ही समग्र उपाधियाँ—विकृतियां पैदा होती हैं ।

३. कम्ममूलं च जं छणं ।

—आचारांग १।३।१

कर्म का मूल क्षण अर्थात् हिंसा है ।

४. सव्वे सयकम्मकप्पिया ।

—सूत्रकृतांग १।२।६।१८

सभी प्राणी अपने कृत-कर्मों के कारण नाना योनियों में भ्रमण करते हैं ।

५. जहाकडं कम्म, तहासि भारे ।

—सूत्रकृतांग १।५।१।२६

जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका भोग ।

६. एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं।

—सूत्रकृतांग १।५।२।२२

आत्मा अकेला ही अपने किए हुए दुःख को भोगता है।

७. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए।

—सूत्रकृतांग १।५।२

अतीत में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है।

८. तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ।

—सूत्रकृतांग १।१५।६

जो नए कर्मों का बन्धन नहीं करता है, उसके पूर्वबद्ध पापकर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

९. अकुव्वओ णवं णत्थि।

—सूत्रकृतांग १।१५।७

जो अन्दर में राग-द्वेष रूप-भावकर्म नहीं करता, उसे नए कर्म का बन्ध नहीं होता।

१०. दुक्खी दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे।

—भगवती ७।१

जो दुःखित—कर्म-बद्ध है, वही दुःख—बन्धन को पाता है, जो दुःखित बद्ध नहीं है वह दुःख—बन्धन को नहीं पाता।

११. सकम्मुणा किच्चइ पावकारी⋯
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

—उत्तराध्ययन ४।३

पापात्मा अपने ही कर्मो से पीड़ित होता है। क्योंकि ⋯
कृत-कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

१२. कम्मसच्चा हु पाणिणो ।

—उत्तराध्ययन ७।२०

प्राणियों के कर्म ही सत्य हैं ।

१३. बहुकम्म लेवलित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ।

—उत्तराध्ययन ८।१५

जो आत्माएँ बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है ।

१४. कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।

—उत्तराध्ययन १३।२३

कर्म सदा कर्त्ता के पीछे-पीछे (साथ) चलते हैं ।

१५. पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।

—उत्तराध्ययन ३२।४६

आत्मा प्रदुष्टचित्त (राग-द्वेष से कलुषित) होकर कर्मों का संचय करती है । वे कर्म, विपाक (परिणाम) में बहुत दुःखदायी होते हैं ।

१६. जहा जहा अप्पतरो से जोगो,
तहा तहा अप्पतरो से बंधो ।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति,
अछिद्दपोतस्स व अंबुणाधे ।।

—बृहत्कल्पभाष्य ३९२६

जैसे-जैसे मन वचन, काया के योग (संघर्ष) अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे बंध भी अल्पतर होता जाता है । योग चक्र का पूर्णतः निरोध होने पर आत्मा में बन्ध का सर्वथा अभाव होता जाता है । जैसे कि समुद्र में रहे हुए अच्छिद्र जलयान में जलागमन का अभाव होता है ।

१७. कर्मभीताः कर्माण्येव वर्द्धयन्ति ।

—सूत्रकृतांगचूर्णि १।१२

कर्मों से डरते रहनेवाले प्राय. कर्म को ही बढाते रहते है ।

१८. जीवाण चेयकडा कम्मा कज्जति,

नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति ।

—भगवती १६।२

आत्माओ के कर्म चेतनाकृत होते है, अचेतना-कृत नही ।

१९. हेउप्पभवोबन्धो ।

—दशवैकालिक निर्युक्ति ४६

आत्मा को कर्म-बन्ध मिथ्यात्व आदि हेतुओ से होता है ।

२०. सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ।

— सूत्रकृतांग १।२।१।४

आत्मा अपने स्वय के कर्मो से ही बन्धन मे पड़ता है । कृत-कर्मो को भोगे बिना मुक्ति नही है ।

२१. पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फल बज्झए पुणो विंटे ।

जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेई ।।

—समयसार १६८

जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुन वृन्त मे नही लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से वियुक्त होने के बाद पुनः आत्मा (वीतराग) को नही लग सकते ।



१८ राग-द्वेष

१. रागो य दोसो वि य कम्मबीय,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥

—**उत्तराध्ययन** ३२।७

राग और द्वेष ये दो कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुतः दुःख है।

२. दुविहे बंधे,
पेज्जबंधे चेव दोसबंधे चेव।

—**स्थानांग** २।४

बन्धन के दो प्रकार है—प्रेम का बन्धन, और द्वेष का बन्धन।

३. रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।

—**उत्तराध्ययन** ३२।३६

मनोज्ञ शब्द आदि राग के हेतु है और अमनोज्ञ द्वेष के हेतु।

४. द्वेष उपशमत्यागात्मकेविकारे।

—**उत्तराध्ययन टीका** ६

उपशमभाव के त्यागरूप आत्मा के विकार को द्वेष कहते हैं।

५. दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेद्यः सतामपि ।

—वीतरागस्तोत्र

दृष्टिराग अर्थात् अपने पंथ का अंधविश्वास महापापी है और सत्पुरुषों के लिए भी दुस्त्याज्य है ।

६. यं दृष्ट्वा वर्धते स्नेहः, क्रोधश्च परिहीयते ॥
स विज्ञेयो मनुष्येण, ममैष पूर्वमित्रकः ॥

—चन्दचरित्र पृष्ठ ८२

जिसे देखकर स्नेह की वृद्धि एवं क्रोध की शान्ति हो, उसे अपना पूर्वजन्म का मित्र समझना चाहिए ।

७. रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसपत्तो ।

—समयसार १५०

जीव रागयुक्त होकर कर्म बांधता है । और विरक्त होकर कर्मों से मुक्त होता है ।

८. ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।

समयसार २६५

कर्मबन्ध वस्तु से नहीं, राग और द्वेष के अध्यवसाय--संकल्प से होता है ।

९. असुहो मोह-पदोसो, सुहो व असुहो हवदि रागो ।

—प्रवचनसार २।८८

मोह और द्वेष अशुभ ही होते है । राग शुभ और अशुभ दोनों होता है ।

१०. जतिभागगया मत्ता, रागादीणं तहा चयो कम्मे ।

बृहत्कल्पभाष्य २५१५

राग की जैसी मंद, मध्यम और तीव्र मात्रा होती है, उसी के अनुसार मंद, मध्यम और तीव्र कर्म वन्ध होता है ।

११. माया-लोभेहिंतो रागो भवति।
कोह-माणेहिंतो दोसो भवति॥

—निशीथचूर्णि १३२

माया और लोभ से राग होता है। क्रोध और मान से द्वेष होता है।

१२. खीरे दूसिं जधा पप्प, विणासमुवगच्छति।
एवं रागो व दोसो य, बंभचेरं विणासणो॥

—ऋषिभाषितानि ३।७

जरा-सी खटाई भी जिस प्रकार दूध को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार राग-द्वेष का संकल्प संयम को नष्ट कर देता है।



१९ पुण्य-पाप

१. इह लोगे सुचिन्ना कम्मा,
इह लोगे सुहफल विवागसंजुत्ता भवंति।
इह लोगे सुचिन्नाकम्मा,
परलोगे सुहफल विवागसंजुत्ता भवंति।

—स्थानांग ४।२

इस जीवन में किए हुए सत्कर्म इस जीवन में भी सुखदायी होते हैं। इस जीवन में किए हुए सत्कर्म अगले जीवन में भी सुखदायी होते हैं।

२. सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति।

—औपपातिक ५६

अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है।
बुरे कर्म का बुरा फल होता है।

३. पावोगहा हि आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो।

—सूत्रकृतांग १।८।७

पापानुष्ठान अन्ततः दुःख ही देते हैं।

४. सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं।

—उत्तराध्ययन १३।१०

मनुष्य के सभी सुचरित (सत्कर्म) सफल होते हैं।

५. जह वा विसगड्डूसं कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम ततो न व मरेज्जा!

—सूत्रकृतांगनिर्युक्ति ५२

जिस प्रकार कोई चुपचाप लुक-छिपकर विष पी लेता है, तो क्या वह उस विष से नही मरेगा? अवश्य मरेगा। उसीप्रकार जो छिपकर पाप करता है तो क्या वह उससे दूषित नही होगा? अवश्य होगा।

६. कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्म चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसील, जं संसारं पवेसदि॥

—समयसार १४५

अशुभकर्म बुरा (कुशील) और शुभ कर्म अच्छा (सुशील) है, यह साधारण जन मानते है। किन्तु वस्तुत जो कर्म प्राणी को ससार में परिभ्रमण कराता है, वह अच्छा कैसे हो सकता है? अर्थात् शुभ या अशुभ कर्म अन्ततः हेय ही है।

७. सुह परिणामो पुण्ण, असुहो पावं ति हवदि जीवस्स।

—पंचास्तिकाय १३२

आत्मा का शुभ परिणाम (भाव) पुण्य है, और अशुभ परिणाम पाप है।

८. रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुस, पुण्णं जीवस्स आसवदि॥

--पंचास्तिकाय १३५

जिसका राग प्रशस्त है, अन्तर में अनुकम्पा की वृत्ति है और मन में कलुषभाव नहीं है, उस जीव को पुण्य का आश्रव होता है।

९. चरिया पमादबहुला, कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो, पावस्स य आसवं कुणदि ॥
—पंचास्तिकाय १३९

प्रमादबहुलचर्या, मन की कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, परपरिताप (परपीड़ा) और परनिन्दा—इनसे पाप का आश्रव (आगमन) होता है ।

१०. पामयति पातयति वा पापं ।
—उत्तराध्ययन चूर्णि २

जो आत्मा को बांधता है, अथवा गिराता है, वह पाप है ।

११. पुन्नं मोक्खगमणविग्घाय हवति ।
—निशीथचूर्णि ३३२९

परमार्थ दृष्टि से पुण्य भी मोक्ष प्राप्ति में विघातक—बाधक है ।

१२. न हु पावं हवइ हियं, विसं जहा जीवियत्थिस्स ।
—मरणसमाधि ६१३

जैसे कि जीवितार्थी के लिए विष हितकर नहीं होता, वैसे ही कल्याणार्थी के लिए पाप हितकर नहीं है ।

१३. संसारसंतईमूलं, पुण्णं पावं पुरेकडं ।
—ऋषिभाषितानि ९।२

पूर्वकृत पुण्य और पाप ही संसार परम्परा का मूल है ।

१४. हेमं वा आयसं वावि. बंधणं दुक्खकारणा ।
महग्घस्सावि दंडस्स, णिवाए दुक्खसंपदा ॥
—ऋषिभाषितानि ४५।५

बन्धन चाहे सोने का हो या लोहे का, बन्धन तो आखिर दुःख-कारक ही है । बहुत मूल्यवान दण्ड (डंडे) का प्रहार होने पर भी दर्द तो होता ही है !

१५. त्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति—
स्वामिद्रोहः स्त्रीवधो बालवधश्चेति ।

—नीतिवाक्यामृत २७।६५

स्वामीवध, स्त्रीवध और बच्चे का वध—ये तीन महापाप हैं, जिनका कुफल मनुष्य को इसीलोक में तत्काल भोगना पड़ता है।

१६. अहियं मरणं अहियं जीवियं पावकम्मकारीणं ।
तमिसम्मि पडंति मया, वेरं बड्ढंति जीवंता ॥

—उपदेशमाला ४४४

पापियों का जीना और मरना—दोनों अहितकारी है, क्योंकि वे मरने पर अन्धकार—दुर्गति में पड़ते हैं और जीवित रहकर प्राणियों के साथ वैर बढ़ाते हैं।



२० मोह

१. मोहेण गब्भं मरणाइ एइ ।

—आचारांग ५।३

मोह से जीव बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है ।

२. मोहो विण्णाण विवच्चासो ।

—निशीथचूर्णि २६

विवेक ज्ञान का विपर्यास ही मोह है ।

३. इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना,
नो हव्वाए नो पाराए ।

—आचारांग १।२।२

बार-बार मोहग्रस्त होनेवाला साधक न इस पार रहता है न उस पार; अर्थात् न इसलोक का रहता है न परलोक का ।

४. जहा य अंडप्पभवा बलागा ।
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ।।

—उत्तराध्ययन ३२।६

जिस प्रकार बलाका (बगुली) अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से, इसी प्रकार मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा मोह से ।

५. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥

—उत्तराध्ययन ३२।८

जिसको मोह नहीं होता, उसका दुःख नष्ट हो जाता है । जिसको तृष्णा नही होती उसका मोह नष्ट हो जाता है । जिसको लोभ नहीं होता, उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है और जो अकिंचन (अपरिग्रही) है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है ।

६. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे,
से केयणं अरिहए पूरइत्तए ।

—आचारांग १।३।२

यह मनुष्य अनेक चित्त है, अर्थात् अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन बिखरा हुआ रहता है ।

७. एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ ।

—आचारांग १।३।४

जो मोह को क्षय करता है, वह अन्य अनेक कर्म विकल्पों को क्षय करता है ।

८. असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ।

सूत्रकृतांग १।१।२।१०

मोहमूढ़ मनुष्य जहाँ वस्तुतः भय की आशंका है, वहां तो भय की आशंका करते नही है और जहाँ भय की आशंका जैसा कुछ नही है, वहां भय की आशंका करते है ।

९. कीरदि अज्झवसाणं, अह ममेदं ति मोहादो ।

—प्रवचनसार ३।१७

मोह के कारण ही मैं और मेरे का विकल्प होता है ।

१०. धिती तु मोहस्स उवसमे होति ।

—निशीथभाष्य ८५

मोह का उपशम होने पर ही धृति होती है ।

११. सुक्कमूले जधा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे खयंगते ।।

—दशाश्रुतस्कंध ५।१४

जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो, उसे कितना ही सींचिए, वह हरा-भरा नहीं होता । मोह के क्षीण होने पर कर्म भी फिर हरे-भरे नहीं होते ।

१२. मूलसित्ते फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं ।

—ऋषिभाषितानि २।६

मूल को सींचने पर ही फल लगते हैं । मूल नष्ट होने पर फल भी नष्ट हो जाता है ।

१३. मोहमूलाणि दुक्खाणि ।

—ऋषिभाषितानि २।७

संसार में समस्त दुःखों का मूल मोह है ।



२१ वैराग्य-सम्बोधन

१. जाव-जाव लोएसणा, ताव-ताव वित्तेसणा।
जाव-जाव वित्तेसणा, ताव-ताव लोएसणा।
से लोएसणं च वित्तेसणं च परिन्नाए गोपहेणं गच्छेज्जा,
णो महापहेणं गच्छेज्जा—जन्नवक्केणं अरहंता इसिणा
बुइयं।

—ऋषिभाषितानि १२।१

जब तक लोकैषणा (प्रसिद्धि की कामना) है, तब तक वित्तैषणा (सम्पत्ति की कामना) है और जब तक वित्तैषणा है, तब तक लोकैषणा है। साधु को चाहिए कि इन दोनों को समझकर गोपथ से गमन करे, किन्तु महापथ से नहीं ! याज्ञवल्क्य-आर्हतर्षि ने ऐसे कहा है।

२. से ण हासाए ण कीड्डाए, ण रतीए ण विभूसाए।

— आचारांग १।२।१

वृद्ध हो जाने पर मनुष्य न हास-परिहास के योग्य रहता है, न क्रीड़ा के, न रति के और न शृंगार के योग्य ही।

३. विरज्य संपदः सन्त-स्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम्।
नावमीत् किं जुगुप्सावान्, सुभुक्तमपि भोजनम्॥

—आत्मानुशासन १०३

सम्पदाओं से विरक्त होकर यदि सन्त उन्हे छोड़ते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि ग्लानि होने पर सुभुक्त-भोजन का वमन हर एक ने किया है।

४. वृत्त्यर्थं कर्म यथा, तदवलोकः पुनः-पुनः कुरुते,
एवं विरागवार्ता-हेतुरपि पुनः-पुनश्चिन्त्यः।

—उमास्वाति

जिस काम से जीवन की वृत्ति चलती हो, उस काम को लोग जैसे पुनः-पुनः करते है उसीप्रकार वैराग्य की बातों के हेतुओं का चिंतन भी पुनः-पुनः करते रहना चाहिए।

५. जेण सिया तेण नो सिया।

—आचारांग १।२।४

तुम जिन (भोगो या वस्तुओं) से सुख की आशा रखते हो, वस्तुतः वे सुख के हेतु नहीं है।

६. नत्थि कालस्स णागमो।

—आचारांग १।२।३

मृत्यु के लिए अकाल—वक्त-बेवक्त जैसा कुछ नहीं है।

७. जीवियं दुप्पडिबूहगं।

—आचारांग १।२।५

नष्ट होते जीवन का कोई प्रतिव्यूह अर्थात् प्रतिकार नहीं है।

८. जहा अंतो तहा बाहिं,
जहा बाहिं तहा अंतो।

—आचारांग १।२।५

यह शरीर जैसा अन्दर में (असार) है, वैसा ही बाहर में (असार) है, जैसा बाहर में (असार) है, वैसा अन्दर में (असार) है।

९. से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी ।

—आचारांग १।२।५

विवेकी साधक लार—थूक चाटनेवाला न बने, अर्थात् परित्यक्त भोगों की पुनःकामना न करे ।

१०. विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा,
महया खुड्डएहिं य ।

—आचारांग १।३।३

महान् हों या क्षुद्र हों, अच्छे हों या बुरे हों, सभी विषयों से साधक को विरक्त रहना चाहिए ।

११. नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि ।

—आचारांग १।४।२

मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी को मृत्यु न आए, यह कभी नहीं हो सकता ।

१२. वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं ।

—उत्तराध्ययन १३।२६

हे राजन् ! जरा मनुष्य की सुन्दरता को समाप्त कर देती है ।

१३. उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ।

—उत्तराध्ययन १३।६३

जैसे वृक्ष के फल जीर्ण हो जाने पर पक्षी उसे छोडकर चले जाते हैं, वैसे ही पुरुष का पुण्य क्षीण होने पर भोग साधन उसे छोड़ देते हैं, उसके हाथ से निकल जाते हैं ।

१४. एगस्स गती य आगती ।

—सूत्रकृतांग १।८।१।३।१७

आत्मा (परिवार आदि को छोड़कर) परलोक में अकेला ही जाता है व अकेला ही आता है ।

१५. अन्नस्स दुक्खं, अन्नो न परियाइयति।

—सूत्रकृतांग २।१।१३

कोई किसी दूसरे के दुःख को बटा नहीं सकता।

१६, अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति एव कयबुद्धी।
दुक्ख-परिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति १५४७

'यह शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है।' साधक इस तत्त्वबुद्धि के द्वारा दुःख एवं क्लेशजनक शरीर की ममता का त्याग करे।

१७. जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपायचंचलं।

—उत्तराध्ययन १८।१३

जीवन और रूप बिजली की चमक की तरह चंचल हैं।

१८. दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवंतमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयन्ति य॥

—उत्तराध्ययन १८।१४

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन सभी जीते जी के साथी हैं। मरने के बाद कोई किसी के पीछे नहीं जाता।

१९. जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो॥

—उत्तराध्ययन १९।१६

संसार में जन्म का दुःख है, जरा, रोग और मृत्यु का दुःख है। चारों ओर दुःख ही दुःख है। अतएव वहाँ प्राणी निरन्तर कष्ट ही पाते रहते हैं।

२०. जलबुब्बुयसमाणं कुसग्गजलबिन्दुचंचलं जीवियं।

—औपपातिक २३

जीवन पानी के बुलबुले के समान और कुशा की नोंक पर स्थित जलबिन्दु के समान चंचल है।

२१. जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणाससहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह॥

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ५

जन्म के साथ मरण, यौवन के साथ बुढ़ापा, लक्ष्मी के साथ विनाश निरन्तर लगा हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को नश्वर समझना चाहिए।

२२. मा एयं अवमन्नंता अप्पेण लुम्पहा बहुं।

—सूत्रकृतांग १।३।४।७

सन्मार्ग का तिरस्कार करके तुम अल्पवैषयिक सुखों के लिए अनन्त मोक्ष सुख का विनाश मत करो।



२२ वीतरागता

१ विमुत्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो ।

—आचारांग १।२।२

जो साधक कामनाओं को पार कर गए हैं, वस्तुतः वे ही मुक्त-पुरुष हैं ।

२ लोभमलोभेण दुगुंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ ।

—आचारांग १।२।२

जो लोभ के प्रति अलोभवृत्ति के द्वारा विरक्ति रखता है, वह और तो क्या, प्राप्त कामभोगों का भी सेवन नही करता है ।

३ अणोहंतरा एए नो य ओहं तरित्तए ।
अतीरंगमा एए नो य तीरं गमित्तए ।
अपारंगमा एए नो य पारं गमित्तए ।

—आचारांग १।२।३

जो वासना के प्रवाह को नहीं तैर पाए, वे ससार के प्रवाह को नही तैर सकते ।

जो इन्द्रियजन्य कामभोगों को पार कर तट पर नहीं पहुंचे हैं, वे संसार-सागर के तट पर नहीं पहुंच सकते ।

जो राग-द्वेष को पार नहीं कर पाए हैं, वे संसार-सागर को पार नहीं हो सकते ।

४ किमत्थि उवाही पासगस्स न विज्जइ ?
नत्थि ! —आचारांग १।३।४

वीतराग सत्यद्रष्टा को कोई उपाधि होती है या नहीं ? नहीं होती।

५ न लोगस्सेसणं चरे।
जस्स नत्थि इमा जाइ,
अण्णा तस्स कओ सिया ?
—आचारांग १।४।१

लोकैषणा से मुक्त रहना चाहिए। जिसको यह लोकैषणा नहीं है, उसको अन्य पाप-प्रवृत्तियाँ कैसे हो सकती हैं ?

६ न सक्का न सोउं सद्दा, सोतविसयमागया।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
—आचारांग २।३।१५।१३१

यह शक्य नहीं है कि कानों में पड़नेवाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएं। अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जगनेवाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए।

७ समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा,
तवो य पन्ना य जस्सो य वड्ढइ।
—आचारांग २।४।१६।१४०

अग्निशिखा के समान प्रदीप्त एवं प्रकाशमान रहनेवाले अन्तर्लीन साधक के तप, प्रज्ञा और यश निरन्तर बढ़ते रहते हैं।

८ अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए।
—सूत्रकृतांग १।१।४।२

अहंकार रहित एवं अनासक्तभाव से मुनि को राग-द्वेष के प्रसंगों में ठीक बीच से तटस्थ यात्रा करनी चाहिए।

९ कामी कामे न कामए, लद्धे वावि अलद्धं कण्हुई ।

—सूत्रकृतांग १।२।३।६

साधक सुखाभिलाषी होकर कामभोगों की कामना न करे । प्राप्त भोगों को भी अप्राप्त जैसा कर दे । अर्थात् उपलब्ध भोगों के प्रति भी निःस्पृह रहे ।

१० लद्धे कामे न पत्थेज्जा ।

—सूत्रकृतांग १।६।३२

प्राप्त होने पर भी कामभोगों की अभ्यर्थना (स्वागत) न करे ।

११ वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि,
तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदई ।

—उत्तराध्ययन २९।४५

वीतराग भाव की साधना से स्नेह (राग) के बन्धन और तृष्णा के बन्धन कट जाते हैं ।

१२ न लिप्पई भव मज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।

—उत्तराध्ययन ३२।४७

जो आत्मा विषयों के प्रति अनासक्त है, वह संसार में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता । जैसे कि पुष्करिणी के जल में रहा पलाश-कमल ।

१३ समो य जो तेसु स वीयरागो ।

—उत्तराध्ययन ३२।६१

जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में सम रहता है, वह वीत-राग है ।

१४ एविंदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेऊं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेंति किंचि॥

—उत्तराध्ययन ३२।१००

मन एवं इन्द्रियों के विषय रागात्मा को ही दुःख के हेतु होते है। वीतराग को तो वे किंचित् मात्र भी दुःखी नहीं कर सकते।

१५ जो ण वि वट्टइ रागे, ण वि दोसे दोण्ह मज्झयारंमि।
सो होइ उ मज्झत्थो सेसा सव्वे अमज्झत्था॥

—आवश्यक निर्युक्ति ८०४

जो न राग करता है और न द्वेष करता है, वही वस्तुतः मध्यस्थ है, बाकी सब अमध्यस्थ हैं।

१६ णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्म मज्झगदो।
णो लिप्पइ रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं॥
अण्णाणी पुण रत्तो, सव्व दव्वेसु कम्म मज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोहं॥

– समयसार २१८-२१९

जिस प्रकार कीचड में पडा हुआ सोना, कीचड से लिप्त नही होता, उसे जंग नहीं लगता है, उसी प्रकार ज्ञानी संसार के पदार्थ-समूह में विरक्त होने के कारण कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता।

किन्तु जिस प्रकार लोहा कीचड में पडकर विकृत हो जाता है, उसे जंग लग जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पदार्थों में राग-भाव रखने के कारण कर्म करते हुए विकृत हो जाता है। कर्म से लिप्त हो जाता है।

१७ तह रायानिलरहिओ, झाणपईवो वि पज्जलई।

—भावपाहुड १२३

हवा से रहित स्थान में जैसे दीपक निर्विघ्न जलता रहता है, वैसे ही राग की वायु से मुक्त रहकर (आत्ममदिर में) ध्यान का दीपक सदा प्रज्वलित रहता है।

१८ भोगेहिं य निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं।

—ज्ञाताधर्मकथा १।९

जो विषय-भोगों से निरपेक्ष रहते है, वे ससार-वन को पार कर जाते है।



२३ तत्त्वदर्शन

१ जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥

—आचारांग १।३।४

जो एक को जानता है, वह सब को जानता है। और जो सब को जानता है, वह एक को जानता है।

२ जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा।
जे अणासवा ते अपरिस्सवा
जे अपरिस्सवा ते अणासवा ॥

—आचारांग १।४।२

जो बन्धन के हेतु हैं, वे भी कभी मोक्ष के हेतु हो सकते हैं। और जो मोक्ष के हेतु हैं, वे भी कभी बन्धन के हेतु भी हो सकते हैं।

जो व्रत, उपवास आदि संवर के हेतु हैं कभी-कभी संवर के हेतु नहीं भी हो सकते हैं। और जो आस्रव के हेतु हैं वे कभी-कभी आश्रव के हेतु नहीं भी हो सकते हैं—अर्थात् आश्रव और संवर मूलतः साधक के अंतरंग भावों पर आधारित है।

३ नो य उप्पज्जए असं।

—सूत्रकृतांग १।१।१।१६

असत् कभी सत् नहीं होता।

४ जदत्थि णं लोगे, तं सव्वं दुअओआरं।

—स्थानांग २।१

विश्व में जो कुछ भी है, वह इन दो शब्दों समाया हुआ है—है—चेतन और जड।

५ ण एवं भूतं वा भव्वं वा भविस्सति वा
जं जीवा अजीवा भविस्संति,
अजीवा वा जीवा भविस्संति।

—स्थानांग १०

न ऐसा कभी हुआ है, न होता है और न कभी होगा ही कि जो चेतन है—वे कभी अचेतन-जड़ हो जाएं. और जो जड अचेतन वे चेतन हो जाएं।

६ अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ,
नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ।

—भगवती १।३

अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व, नास्तित्व में परिणत होता है, अर्थात् सत् सदा सत् ही रहता है और असत, सदा असत्।

७ अजीवा जीव पइट्ठिया,
जीवा कम्म पइट्ठिया।

—भगवती १।३

अजीव जड पदार्थ जीव के आधार पर रहे हुए है और जीव (संसारी प्राणी) कर्म के आधार पर रहे हुए है।

८ अथिरे पलोट्टइ नो थिरे पलोट्टइ।
अथिरे भज्जइ, नो, थिरे भज्जइ॥

अस्थिर बदलता है, स्थिर नहीं बदलता।
अस्थिर टूट जाता है, स्थिर नही टूटता।

९ करणओ सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा।

—भगवती १।१०

कोई भी क्रिया किए जाने पर ही सुख-दुःख का हेतु होती है। न किए जाने पर नहीं।

१० जीवा णो वड्ढंति, णो हायंति, अवटिठ्या।

—भगवती ५।८

जीव न बढ़ते हैं न घटते है, किन्तु सदा अवस्थित रहते हैं।

११ जीवे ताव नियमा जीवे,
जीवे वि नियमा जीवे।

—भगवती ६।१०

जो जीव है, वह निश्चितरूप से चैतन्य है।
और जो चैतन्य है, वह निश्चितरूप से जीव है।

१२ अहासुत्तं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ।
उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ॥

—भगवती ७।१

सिद्धान्तानुकूल प्रवृत्ति करनेवाला साधक ऐर्यापथिक (अल्पकालिक) क्रिया का बंध करता है। सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रवृत्ति करनेवाला सांपरायिक (चिरकालिक) क्रिया का बन्ध करता है।

१३ जीवा सिय सासया, सिय असासया।
··· दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया॥

—भगवती ७।२

जीव शाश्वत भी है, अशाश्वत भी।
द्रव्यदृष्टि (मूलस्वरूप) से शाश्वत है तथा भावदृष्टि (मनुष्यादि पर्याय) से अशाश्वत।

१४ नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे।
जत्थं णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि ॥

—भगवती १२।७

इस विराट् विश्व मे परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नही है, जहाँ यह जीव न जन्मा हो न मरा हो।

१५ अत्ताकडे दुक्खे, नो परकडे।

—भगवती १७।५

आत्मा का दु:ख स्वकृत है, अपना किया हुआ है, परकृत अर्थात् किमी अन्य का किया हुआ नही है।

१६ मुहदुक्खसंपओगो,
न विज्जई निच्चवायपक्खमि।
एगंतुच्छेअमि य,
सुहदुक्खविगप्पणमजुत्तं ॥

—दशवैकालिक निर्युक्ति ६०

एकान्त नित्यवाद के अनुमार सुख-दु ख का सयोग सगत नही बैठता और एकान्त उच्छेदवाद-अनित्यवाद के अनुसार भी सुख-दु ख की बात उपयुक्त नही होती। अत नित्यानित्यवाद ही इसका मही समाधान कर मकता है।

१७ दव्वं मलक्खणयं, उप्पादव्वयधुवत्त संजुत्तं।

—पचास्तिकाय १०

द्रव्य का लक्षण सत् है, और वह सदा उत्पाद, व्यय एव ध्रुवत्व-भाव मे युक्त होता है।

१८ दव्वेण विणा न गणा,
गणेहि दव्वं विणा न मंभवदि।

—पंचास्तिकाय १३

द्रव्य के विना गुण नही होते है, और गुण के बिना द्रव्य नही होते।

१९ भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स च्चेव उप्पादो।

—पंचास्तिकाय १५

भाव (सत्) का कभी नाश नही होता, और अभाव (असत्) का कभी उत्पाद (जन्म) नहीं होता।

२० सव्वं च्चिय पइसमयं
उप्पज्जइ नासए य निच्चं च।

—विशेषावश्यकभाष्य ५४४

विश्व का प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है, साथ ही नित्य भी रहता है।

२१ उप्पज्जंति वियंति य,
भावा नियमेण पज्जवनयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं,
सया अणुप्पन्नमविणट्ठं॥

—सन्मतितर्क १।११

पर्यायदृष्टि से सभी पदार्थ नियमेन उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी। परन्तु द्रव्यदृष्टि से सभी पदार्थ उत्पत्ति और विनाश से रहित सदाकाल ध्रुव हैं।

२२ दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पायट्ठइ-भंगा, हंदि, दविय लक्खणं एयं॥

सन्मतितर्क १।१२

द्रव्य कभी पर्याय के बिना नहीं होता, और पर्याय कभी द्रव्य के बिना नहीं होता। अतः द्रव्य का लक्षण उत्पाद, नाश और ध्रुव (स्थिति) रूप है।

२३ तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उ ण, हवन्ति सम्मत्तसब्भावा।

—सन्मतितर्क १।२१

अपने-अपने पक्ष में ही प्रतिबद्ध परस्पर निरपेक्ष सभी नय (मत) मिथ्या हैं, असम्यक् हैं। परन्तु ये ही नय जब परस्पर सापेक्ष होते हैं, तब सत्य एवं सम्यक् बन जाते हैं।

२४ ण वि अत्थि अण्णवादो, ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि।

—सन्मतितर्क ३।२६

जैन-दर्शन में न एकान्त भेदवाद मान्य है और न एकान्त अभेद-वाद। (अतः जैन-दर्शन भेदाभेदवादी दर्शन है।)

२५ जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया॥

—सन्मतितर्क ३।४७

जितने वचन विकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं, और जितने भी नयवाद हैं, संसार में उतने ही पर-समय है, अर्थात् मत-मतान्तर हैं।

२६ दव्वं खित्तं कालं, भावं पज्जाय देस संजोगे।
भेदं पडुच्च समा, भावाणं पण्णवणपज्जा॥

—सन्मतितर्क ३।६०

वस्तुतत्व की प्ररूपणा द्रव्य (पदार्थ की मूलजाति), क्षेत्र (स्थिति-क्षेत्र), काल (योग्य-समय), भाव (पदार्थ की मूलशक्ति), पर्याय (शक्तियों के विभिन्न परिणमन अर्थात कार्य), देश (व्यावहारिक स्थान), सयोग (आस-पास की परिस्थिति), और और भेद (प्रकार) के आधार पर ही सम्यक् होती है।

२७. भद्दं मिच्छा दंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स॥

—सन्मतितर्क ३।६९

विभिन्न मिथ्यादर्शनों का समूह[1] अमृतसार—अमृत के समान क्लेश का नाशक, और मुमुक्षु आत्माओं के लिए सहज, सुबोध भगवान जिनप्रवचन का मंगल हो।

२८. जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥

—सन्मतितर्क ३।७०

जिसके बिना विश्व का कोई भी व्यवहार सम्यग्-रूप से घटित नहीं होता है, अतएव जो त्रिभुवन का एक मात्र गुरु (सत्यार्थ का उपदेशक) है, उस अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार है।

२९. णत्थि विणा परिणामं, अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।

—प्रवचनसार ।११०

कोई भी पदार्थ बिना परिणमन के नहीं रहता। और परिणमन भी बिना पदार्थ के नहीं होता।

३०. सव्वे वि होंति सुद्धा, नत्थि असुद्धो नयो उ सट्ठाणे।

—व्यवहारभाष्य पीठिका ४७

सभी नय (विचार-दृष्टियां) अपने अपने स्थान (विचारकेन्द्र) पर शुद्ध है। कोई भी नय अपने स्थान पर अशुद्ध (अनुपयुक्त) नहीं है।



---

१ जैनदर्शन को विभिन्न एकांतवादी मिथ्यादृष्टियों का 'सम्यग् एकीभाव' माना गया है, अर्थात् काल, द्रव्य क्षेत्र आदि का अलग अलग आग्रह मिथ्यादृष्टि है, और पांचों का समवाय, सम्मिलित चिंतन सम्यक्दृष्टि है इसलिए—'**मिच्छत्तमयं समूह सम्मत्तं**' (**विशेषा० ९५४**) मिथ्यादृष्टियों का समूह सम्यक्दृष्टि है—कहा है।

२४ सार्थक परिभाषाएँ

१. जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥

—उत्तराध्ययन २५।२७

ब्राह्मण वही है—जो संसार में रहकर भी काम भोगों से निर्लिप्त रहता है, जैसे कि कमल जल में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता।

२. न वि मुंडएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥

—उत्तराध्ययन २५।३०

सिर मुंड़ा लेने से कोई श्रमण नही होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुशचीवर—वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं होता।

३. समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो॥

—उत्तराध्ययन २५।३२

समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है।

४. कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥
—उत्तराध्ययन २५।३३

कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र।

५. पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं मुणी त्ति वुच्चे।
—आचारांग १।३।१

जो अपने प्रज्ञान (बुद्धि-ज्ञान) से संसार के स्वरूप को जानता है, वह मुनि कहलाता है।



२५ गुच्छक

१. चत्तारि सुता—
अतिजाते, अणुजाते,
अवजाते, कुलिंगाले।

—स्थानांग ४।१

कुछ पुत्र गुणों की दृष्टि से अपने पिता से बढ़कर होते हैं। कुछ पिता के समान होते हैं और कुछ पिता से हीन। कुछ पुत्र कुल का सर्वनाश करने वाले कुलांगार होते हैं।

२. आवायभद्दए णामं, एगे णो संवासभद्दए।
संवासभद्दए णामं, एगे णो आवायभद्दए।
एगे आवायभद्दए वि, संवासभद्दए वि।
एगे णो आवायभद्दए, णो संवासभद्दए।

—स्थानांग ४।१

कुछ व्यक्तियों की मुलाकात अच्छी होती है, किन्तु सहवास अच्छा नहीं होता।

कुछ का सहवास अच्छा रहता है, मुलाकात नहीं।

कुछ एक की मुलाकात भी अच्छी होती है और सहवास भी।

कुछ एक का न सहवास ही अच्छा होता है और न मुलाकात ही।

३. अप्पणो णामं एगे वज्जं पासइ, णो परस्स ।
परस्स णामं एगे वज्जं पासइ, णो अप्पणो ।
एगे अप्पणो वज्जं पासइ, परस्स वि ।
एगे णो अप्पणो वज्जं पासइ, णो परस्स ।

—स्थानांग ४।१

कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते हैं, दूसरों का नहीं ।
कुछ दूसरों का दोष देखते हैं, अपना नहीं ।
कुछ अपना दोष भी देखते हैं, दूसरों का भी ।
कुछ न अपना दोष देखते हैं, न दूसरों का ।

४. चत्तारि पुप्फा—
रूवसंपन्ने णामं एगे णो गंधसंपन्ने ।
गंधसंपन्ने णामं एगे नो रूवसंपन्ने ।
एगे रूवसंपन्ने वि गंधसंपन्ने वि ।
एगे णो रूवसंपन्ने णो गधसंपन्ने ।
एवामेव चत्तारि पुरिसजाया ।

—स्थानांग ४।३

फूल चार तरह के होते हैं—
सुन्दर, किन्तु गंधहीन ।
गंधयुक्त, किन्तु सौन्दर्यहीन ।
सुन्दर भी, सुगन्धित भी ।
न सुन्दर, न गंधयुक्त ।
फूल के समान मनुष्य भी चार तरह के होते है ।
[भौतिक सम्पत्ति सौन्दर्य है, तो आध्यात्मिक सम्पत्ति सुगंध है]

५. अट्ठकरे णामं एगे णो माणकरे ।
माणकरे णामं एगे णो अट्ठकरे ।

एगे अट्ठकरे वि माणकरे वि।
एगे णो अट्ठकरे, णो माणकरे।

—स्थानांग ४।३

कुछ व्यक्ति सेवा आदि महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं, किन्तु उसका अभिमान नहीं करते।
कुछ अभिमान करते हैं, किन्तु कार्य नहीं करते।
कुछ कार्य भी करते हैं, अभिमान भी करते हैं।
कुछ न कार्य करते हैं, न अभिमान ही करते हैं।

६. अप्पणो णामं एगे पत्तियं करेइ, णो परस्स।
परस्स णामं एगे पत्तियं करेइ, णो अप्पणो।
एगे अप्पणो पत्तियं करेइ, परस्सवि।
एगे णो अप्पणो पत्तियं करेइ, णो परस्स।

—स्थानांग ४।३

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो सिर्फ अपना ही भला चाहते हैं, दूसरों का नहीं।

कुछ उदार व्यक्ति अपना भला चाहे बिना भी दूसरों का भला करते हैं।

कुछ अपना भला भी करते हैं और दूसरों का भी।
और कुछ न अपना भला करते हैं, न दूसरों का।

७. गज्जित्ता णामं एगे णो वासित्ता।
वासित्ता णामं एगे णो गज्जित्ता।
एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि।
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता।

—स्थानांग ४।३

मेघ की तरह दानी भी चार प्रकार के होते हैं—
कुछ बोलते हैं, देते नहीं।
कुछ देते हैं, किन्तु कभी बोलते नहीं।
कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं।
और कुछ न बोलते हैं, न देते हैं।

८. देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति।
देवे णममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति।
रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति।
रक्खसे णाममेगे रक्खसीएसद्धिं संवासं गच्छति।

—स्थानांग ४।४

चार प्रकार के सहवास है—
देव का देवी के साथ—शिष्ट भद्र पुरुष, सुशीला भद्र नारी।
देव का राक्षसी के साथ—शिष्ट पुरुष, कर्कशा नारी।
राक्षस का देवी के साथ—दुष्ट पुरुष, सुशीला नारी।
राक्षस का राक्षसी के साथ—दुष्ट पुरुष, कर्कशा नारी।

९. चत्तारि कुंभे—
मधुकुंभे नामं एगे मधुपिहाणे।
मधुकुंभे नामं एगे विसपिहाणे।
विसकुंभे नामं एगे मधु पिहाणे।
विसकुंभे नामं एगे विसपिहाणे।

—स्थानांग४।४

चार प्रकार के घड़े होते हैं—
मधु का घड़ा, मधु का ढक्कन।
मधु का घडा विष का ढक्कन।
विष का घड़ा, मधु का ढक्कन।
विष का घड़ा, विष का ढक्कन।
[मानव पक्ष में हृदय घट है और वचन ढक्कन]

(क) हिययमपावमकलुसं, जीहा वि य मधुरभासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे मधुपिहाणे॥

जिसका अन्तर हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, वह मनुष्य मधु के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है।

(ख) हिययमपावमकलुसं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे विसपिहाणे॥

जिसका हृदय तो निष्पाप और निर्मल है, किन्तु वाणी से कटु एवं कठोर भाषी है, वह मनुष्य मधु के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है।

(ग) जं हिययं कलुसमय, जीहा वि य मधुरभासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से विषकुंभे महुपिहाणे॥

जिसका हृदय कलुषित और दम्भ युक्त है, किन्तु वाणी से मीठा बोलता है। वह मनुष्य विष के घड़े पर मधु के ढक्कक के समान है।

(घ) जं हिययं कलुसमयं, जीहा.वि य कडुयभासिणी णिच्चं।
जंमि पुरसंमि विज्जति, से विसकुंभे विसपिहाणे॥

—स्थानांग ४।४

जिसका हृदय भी कलुषित है और वाणी से भी सदा कटु बोलता है, वह पुरुष विष के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है।

६. समुद्दं तरामीतेगे समुद्द तरइ।
समुद्दं तरामीतेगे गोप्पयं तरइ।
गोप्पयं तरामीतेगे समुद्दं तरइ।
गोप्पयं तरामीतेगे गोप्पयं तरइ।

—स्थानांग ४।४

कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं और समुद्र तैरने जैसा ही महान् कार्य भी करते हैं।

कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं, किन्तु गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं।

कुछ गोष्पद जैसा क्षुद्र संकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते हैं।

कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं।

१०. चत्तारि परिसजाया—

रूवेणामं एगे जहइ णो धम्मं।
धम्मेणामं एगे जहइ णो रूवं।
एगे रूवे वि जहइ धम्मं वि।
एगे णो रूवं जहइ णो धम्मं।

—व्यवहारसूत्र १०

चार तरह के पुरुष हैं—
कुछ व्यक्ति वेष छोड देते हैं, किन्तु धर्म नहीं छोडते।
कुछ धर्म छोड देते हैं किन्तु वेष नहीं छोड़ते।
कुछ वेष भी छोड देते हैं और धर्म भी।
और कुछ ऐसे भी होते हैं जो न वेष छोड़ते हैं न धर्म।

११. सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा—

अकाले न वरसइ, काले वरसइ,
असाधू ण पुज्जंति साधू पुज्जंति,
गुरुहिं जणो सम्मं पडिवन्नो
मणो सुहत्ता, वइ सुहत्ता।

—स्थानांग ७

इन सात बातों से समय की श्रेष्ठता (सुकाल) प्रकट होती है—
असमय पर न बरसना, समय पर बरसना,
असाधुजनों का महत्व न बढना, साधुजनों का महत्व बढना,
माता-पिता आदि गुरुजनों के प्रति सद् व्यवहार होना।
मन की शुभता और वचन की शुभता।

१२. नवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया—
अच्चासणाए
अहियासणाए
अइनिद्दाए
अइजागरिएण
उच्चारनिरोहेणं
पासवणनिरोहेणं
अद्धाणगमणेणं
भोयणपडिकूलयाए
इंदियत्थ-विकोवणयाए

—स्थानांग ९

रोग होने के नौ कारण हैं—
अतिभोजन
अहित भोजन
अतिनिद्रा
अतिजागरण
मल के वेग को रोकना
मूत्र के वेग को रोकना
अधिक भ्रमण करना
प्रकृति के विरुद्ध भोजन करना
अति विषय सेवन करना।

परिशिष्ट



ग्रंथ व ग्रंथकार परिचय

(प्रस्तुत पुस्तक में जिन ग्रन्थों से शिक्षाएं संकलित की गई हैं उन ग्रंथों व ग्रंथकारों का संक्षिप्त परिचय ।

१ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका
(आचार्य हेमचन्द्र सूरि वि० १२वीं शती)

२ अनुयोगद्वार सूत्र
(आगमों में चार मूल आगम में अन्तिम आगम)

३ अमितगति-श्रावकाचार
(आचार्य अमितगति)

४ अभिधानचिन्तामणि कोश
(आचार्य हेमचन्द्र सूरि १२वीं शती)

५ आचारांग सूत्र
(आगमों में प्रथम अंग आगम)

६ आचारांग चूर्णि
(आचार्य जिनदास महत्तर वि० ७वीं शती)

७ आचारांग निर्युक्ति
(आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) वि० ५-६ठी शती)

८ आत्मानुशासन
(आचार्य गुणभद्र, जिनसेन के शिष्य वि० ६-१०वीं शती)

९ **आतुरप्रत्याख्यान**

(स्थविर आचार्यकृत, ४५ आगमों की क्रम सूची में ३६ वां आगम)

१० **आदिपुराण**

(आचार्य जिनसेन, वि० ६, वीं शती)

११ **आराधनसार**

(दिगम्बर परम्परा का मुख्य ग्रंथ)

१२ **आवश्यकनिर्युक्ति**

(आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) वि० ५-६ठी शती)

१३ **आवश्यकमलयगिरि**

(आवश्यक सूत्र पर आचार्य मलयगिरि कृत विवेचन)

१४ **आवश्यकसूत्र**

(३२ आगमों में अन्तिम आगम)

१५ **ओघनिर्युक्ति**

(आचार्य भद्रबाहु, द्वितीय)

१६ **औपपातिकसूत्र**

(आगमों में प्रथम उपांग आगम)

१७ **उत्तराध्ययनसूत्र**

(चार मूल आगमों में द्वितीय आगम)

१८ **उत्तराध्ययनचूर्णि**

(आचार्य जिनदास महत्तर)

१९ **उत्तराध्ययनटीका**

(आचार्य कमलसंयमी की प्रसिद्ध टीका)

२० **उपदेशप्रासाद**

(प्राचीन कथा ग्रंथ—आचार्य विजयलक्ष्मी सूरि कृत, रचनाकाल वि० सं० १८४३)

२१ **उपदेशमाला**

(क्षमाश्रमण धर्मदास गणी वि० ५वीं शती)

२२ **कीर्तिकेयानुप्रेक्षा**

(दिगम्बर आचार्य स्वामीकीर्तिकेय वि० १२ वीं शती)

२३ **कुमारपालप्रबन्ध**

(आचार्य हेमचन्द्रसूरि १२वीं शती)

२४ **गच्छाचारपइण्णा**

(प्रकीर्णक आगम ८४ आगमों की क्रमसूची में ५४ वां आगम)

२५ **चन्द्रचरित्र**

(प्राचीन संस्कृत काव्य)

२६ **जैनसिद्धान्तदीपिका**

(आचार्य तुलसी, वर्तमानशती, जैन श्वेताम्बर तेरापंथ)

२७ **तत्त्वार्थसूत्र**

(आचार्य उमास्वाति वि० ३ शती)

२८ **तन्दुलवैचारिक**

(४५ आगमों की क्रमसूची में ३८वां आगम)

२९ **तपोष्टक**

(उपाध्याय यशोविजयजी वि-१८ वीं शती)

३० **दशवैकालिकसूत्र**

(आचार्य शय्यंभव संकलित चार मूल आगमों में—प्रथम आगम)

३१ **दशवैकालिक नियुक्ति**

(आचार्य भद्रबाहु)

३२ **दशाश्रुतस्कंध**

(आगमों में चार छेद में अन्तिम छेद सूत्र)

३३ दर्शनपाहुड
(आचार्य कुन्दकुन्द वि० २ शती)

३४ दर्शनशुद्धितत्त्व
(श्वेताम्बर आम्नाय का ग्रंथ)

३५ द्रव्यसंग्रह
(आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती वि० १०वीं शती)

३६ धर्मरत्नप्रकरण
(श्वेताम्बर परम्परा का प्रसिद्ध ग्रंथ)

३७ धर्मबिन्दु
(आचार्य हरिभद्रसूरि ८वीं शती)

३८ धर्मसंग्रह

३९ नन्दीसूत्र
(चार मूल आगमों में अंतिम मूल आगम, आचार्य देवर्द्धिगणी संकलित)

४० नियमसार
(आचार्य कुन्दकुन्द)

४१ निशीथचूर्णि
(आचार्य जिनदास महत्तर)

४२ निशीथभाष्य
(जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण वि० ७वीं शती)

४३ नीतिवाक्यामृत
(आचार्य सोमदेवसूरि वि० ११वीं शती)

४४ प्रणिपातदण्डक (षडावश्यक टीका)

४५ प्रवचनसार
(आचार्य कुन्दकुन्द)

४६ प्रवचन सारोद्धार
(प्राचीन संग्रह ग्रंथ)

४७ प्रश्नव्याकरणसूत्र

(आगमों में १०वां अंग आगम)

४८ प्रशमरति प्रकरण

(आचार्य उमास्वाति)

४९ प्रज्ञापनासूत्र

(आगमों मे चौथा उपांग आगम)

५० बृहत्कल्पभाष्य

(जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण)

५१ बोधपाहुड

(आचार्य कुन्दकुन्द)

५२ भक्तपरिज्ञा

(४५ आगमों में ३७वां आगम)

५३ भगवती आराधना

(दिगम्बर आम्नाय का प्रमुख ग्रंथ)

५४ भगवती सूत्र

(आगमों में ५वां अंग आगम)

५५ भगवती टीका

(भगवती सूत्र पर अभयदेव सूरि-(नवांगी टीकाकार) की टीका वि० १२वीं शती)

५६ भावपाहुड

(आचार्य कुन्दकुन्द)

५७ मरणसमाधिप्रकीर्णक

(८४ आगमों की क्रम सूची में ५५वां आगम)

५८ मनोनुशासनम्

(आचार्य तुलसी रचित, वर्तमान शती)

५९ मूलाचार

(श्रीमद्वट्केर (दिगम्बर) वि० ५वीं शती—

६० मोक्षपाहुड

(आचार्य कुन्दकुन्द)

६१ यशस्तिलकचम्पू

(आचार्य सोमदेव सूरि, ११वीं शती)

६२ योगशास्त्र

(आचार्य हेमचन्द्र सूरि वि० १२वीं शती)

६३ योगसार

(योगीन्द्र देव, दिगम्बर आचार्य, अपभ्रंश भाषा में छंद में विशेष रचनाएं की हैं)

६४ राजप्रश्नीयसूत्र

(आगमों में दूसरा उपांग आगम)

६५ ऋषिभाषितानि

(८४ आगमों की क्रम-सूची में ५२वां आगम, प्रकीर्णक)

६६ व्यवहारसूत्र

(चार छेद सूत्रों में दूसरा छेद सूत्र)

६७ व्यवहारभाष्य

(जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण)

६८ वसुनन्दिश्रावकाचार

(दिगम्बर आम्नाय का प्रमुख ग्रंथ)

६९ विशेषावश्यक भाष्य

(जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण)

७० वीतरागस्तोत्र

(आचार्य हेमचन्द्रसूरि)

७१ शान्तसुधारस भावना

(आचार्य विनयविजयजी वि० १७वीं शती)

७२ श्राद्धविधि

(श्वेताम्बर आम्नाय का श्रावकाचार विषयक ग्रंथ)

७३ श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति

(श्रावकाचार विषयक श्वेताम्बर ग्रंथ)

७४ शीलपाहुड

(आचार्य कुन्दकुन्द)

७५ शुभचन्द्राचार्य

(ज्ञानार्णव आदि के रचयिता, दिगम्बर जैन आम्नाय के प्रौढ़तम विद्वान् वि० १२वीं शती)

७६ स्थानांग सूत्र

(आगमो में तीसरा अंग आगम)

७७ सन्मतितर्कप्रकरण

(आचार्य सिद्धसेन दिवाकर वि० ४-५वीं शती)

७८ समयसार

(आचार्य कुन्दकुन्द का प्रमुख ग्रंथ)

७९ संबोधि

(मुनि श्री नथमलजी, वर्तमान शती)

८० संबोधसत्तरि

(प्राचीन श्वेताम्बरग्रंथ)

८१ समाधिशतक

(स्वामी पूज्यपाद, दिगम्बर)

८२ सिन्दूरप्रकरण

८३ सूत्रकृतांग

(आगमो में दूसरा अंग आगम)

८४ सूत्र कृतांगचूर्णि

(आचार्य जिनदास महत्तर)

८५ सूत्रकृतांग निर्युक्ति
(आचार्य भद्रबाहु, द्वितीय)

८६ सूत्रपाहुड
(आचार्य कुन्दकुन्द)

८७ हरिभद्रटीका
(आवश्यक सूत्र पर आचार्य हरिभद्र (वि० ८वीं शती) की टीका।

८८ हरिभद्रसूरि
(वि० ८वीं शती में श्वेताम्बर जैन परम्परा के प्रमुख विद्वान् आचार्य, आगमों के प्रथम टीकाकार एवं अनेक दर्शन ग्रन्थों के प्रणेता)

८९ हिंगुलप्रकरण
(उपदेश-प्रधान ग्रन्थ)

९० त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
(आचार्य हेमचन्द्रसूरि)

९१ ज्ञाताधर्मकथा
(आगमों में छठा अंग आगम)

९२ ज्ञानार्णव
(आचार्य शुभचन्द्र वि० ११वीं शती)

९३ ज्ञानसार



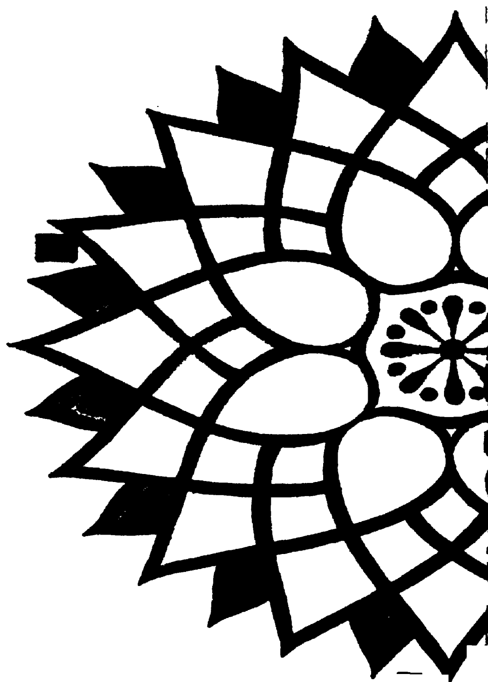
हजार शिक्षाएँ

यह अपने विषय का एक महत्वपूर्ण तथा सर्वथा मौलिक संकलन है। भगवान महावीर से लेकर अधुनाकाल तक (ढाई हजार वर्ष) के प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत जैन साहित्य की विविध विषयों की जीवन-निर्माणकारी तथा अध्यात्म एवं वैराग्यप्रधान एक हजार आठ शिक्षाएँ इसमें संगृहीत हैं।

बहुश्रुत मनस्वी, ज्ञान तपस्वी एवं सतत अध्ययन अनुशीलन में निरत मुनिश्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' ने इस संकलन में अत्यधिक श्रम किया है। ढाई हजार वर्ष के जैन वाङ्मय का आलोड़न कर एक मुक्ताहार गूँथ दिया है।

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

जैनधर्म की हजार शिक्षाएं



जैन ध

हजारी

श्री मधुक